नीड़



कस्बा चार-पांच सौ साल पुराना था।

मुमकिन है, वह हजारों साल पुराना रहा हो, क्योंकि वहां पुराण-काल के अवशेष भी मौजूद थे—टीले, आधे मील में फैला किला, सदियों पुराने मंदिर, खंडहर बारादरियां, मकबरे, बड़ी-बड़ी मस्जिदें, पीरों के मजार···लेकिन कस्बे की मौजूदा शक्ल उसे निश्चित रूप से चार-पांच सौ साल पहले मिली थी : टेढ़ी-मेढ़ी, संकरी गलियां, लखौरी ईंटों के छज्जों वाले, छोटे-छोटे कमरों वाले घर ···ईंटों से ही बनी ऊबड़-खाबड़ सड़कें···ऐतिहासिक इमारतें···

कुल मिलाकर एक अजीब-सा रोमांस था उस कस्बे की हवा में, जो मक्खियों और गरमी और पसीने के बावजूद आदमी को उन फूलों की खुशबू में सराबोर किये रहता था, जो किले पर बने बगीचों से आती रहती थी, जहां गेंदे और गुलाब, चमेली और अकीक की क्यारियों के आसपास आड़ू और अमरूद के पौधे लगे हुए थे। किले के नीचे कई फर्लांग तक फैले अनार और पपीते का बाग देखने वाले को अपनी रंगत में बांध लेता था। बाग के बीचों-बीच बनी करीब तीन सौ साल पुरानी बारादरी से अब भी संगीत की झंकार उठती महसूस होती थी। कहते हैं, उसे कस्बे के एक नवाब ने अपनी प्रेमिका के लिए बनवाया था। तब वह दुमंजिली थी, नीचे तहखाना था। ऊपर की मंजिल पर बैठकर नवाब साहब प्रेमिका के गायन का आनंद लेते थे। आधी रात के बाद नीचे की मंजिल पर संगीतकार अपना संगीत जारी रखते थे और ऊपर की मंजिल पर नवाब साहब अपनी प्रेमिका की आगोश में गुम हो जाते थे। तहखाने

ऐयाशी का सारा सामान रहता था—साथ ही प्रेमिका की सारी
लत भी।

अब तो ऊपर की मंजिल के नाम पर सिर्फ एक कंगूरा ही बचा ा। छतें ढह चुकी थीं। दीवारों की हालत भी खस्ता थी—जगह-जगह से ईंटों की'चमड़ी उधड़ रही थी। बीच-बीच में हर तरह के पौधे और लताएं उग आयी थीं। रात के वक्त चमगादड़ और उल्लू अपने पंख फड़फड़ाते रहते थे···उसके बावजूद फिजा में सदियों पहले का संगीत अब भी बरकरार था—किसी खुशनुमा याद की तरह।

मोहन को यह टूटी-फूटी बारादरी अजीब-सा सुकून देती थी। और उसका इस टेकरी से रिश्ता भी बहुत पुराना था···हालांकि अन्य लोग उस तरफ कम ही जाते थे।

उस दिन उसका हाई स्कूल का रिजल्ट निकला था। रात उसे नींद नहीं आई थी। अजीब-सी उत्तेजना थी, धुकधुकी-सी लगी हुई थी। पास तो वह हो ही जायेगा, उसे पूरी उम्मीद थी, लेकिन नंबर अच्छे न आये, तो पिता जरूर उसकी खाल खींच लेंगे, यह भी वह जानता था। दो-एक परचे उसके अच्छे नहीं हुए थे, इसलिए बेचैनी-सी भी थी।

सुबह वह बहुत जल्दी उठ गया था।

उसका कमरा छत पर था। एक अकेला कमरा, जहां वह अपने-आप में गुम रहता था।

कमरे से निकलकर वह सीढ़ियां उतर रहा था कि आंगन में ही पिता हैंड पंप पर नहाते मिल गये थे। मोहन को ताज्जुब हुआ था। इतनी सुबह तो पिताजी कभी नहीं नहाते थे।

पिता का स्नान और 'कृष्ण स्तोत्र', दोनों, साथ-साथ चल रहे थे, बल्कि एक चीज और भी थी, जो स्नान-स्तोत्र के साथ चल रही थी—हमेशा चलती रहती थी···

"श्री कूल जमुना···धेनु आगे···अधर मुरली गिरधरं···" पिता अपनी धुन में गा रहे थे—साथ ही मोहन की मां को निर्देश भी दे रहे थे—"तारो, पाजामे में नाड़ा डाल देना··· मेरा बटुआ भी रख देना···"

श्रौर उसके साथ-साथ बदन पर ठंडे पानी के लोटे भी उंडेलते जा रहे थे।

मोहन को सीढ़ियों से उतरता देखकर अचानक उनपर ब्रेक लग गई थी।

"कहां चले सुबह-सुबह ?" उन्होंने पूछा था।

मोहन के पांव वहीं आखिरी सीढ़ी पर जम गये थे। उसकी धड़कन एकाएक तेज हो गयी थी। 'चौक तक जा रहा हूं···"

"रिजल्ट देखने जा रहे हो, तो घर बैठो ··मैं जा रहा हूं···अखबार ले आऊंगा···" पिता ने कहा था और फिर व्यस्त हो गए थे।

मोहन वापस मुड़कर सीढ़ियां चढ़ने लगा था।

पिता तैयार होकर घर से निकल गये थे। तब मां ने मोहन को बुलाया था। वह नीचे आया था, नहाया था और नाश्ते के लिए बैठ गया था।

चाय के साथ आलू के दो पराठे खाकर वह खटिया पर बैठा सोच ही रहा था कि [illegible]
दरवाजे पर नमूदार हो गए थे।

मां ने सब्जी चूल्हे पर चढ़ा दी थी। कड़ाही में से आलू-मेथी की सोंधी-सोंधी महक उठ रही थी और साथ ही सूं-सूं की आवाज भी।

मां ने दोपहर के खाने के लिए आटा भी गूंथ लिया था। बड़े कटोरे में हाथ धोकर उसने अपने दुपट्टे से ही हाथ पोंछ लिए थे।

पिता के हाथों में मिठाई की टोकरी थी। उसीके नीचे उन्होंने अखबार भी दबा रखा था। उनके गोल चेहरे पर गर्व का भाव साफ-साफ चमक रहा था।

"पास हो गया मेरा मोहन ?" मां ने उन्हें देखते ही कहा था।

"होता कैसे नहीं भागवान !" पिता बोले थे। उन्होंने मिठाई वाली टोकरी मां की तरफ बढ़ा दी थी। "बेटा किसका है ?···बड़े अच्छे नंबरों से पास हुआ है···बस, छह-सात नंबरों से फर्स्ट क्लास रह गई—जरा-सी मेहनत और करता तो···"

"चलो, इसकी मेहनत सुकारथ हुई···वैष्णोदेवी ने मेरी सुन ली···

देवी मां जब बुलावा भेजे, तो मैं जाकर चुन्नी चढ़ा आऊं…"

पिता खटिया पर बैठ गए थे।

"हां-हां…जरूर चढ़ाना, तुम्हें रोका किसने है ?" पिता बोले थे। फिर मोहन की ओर मुखातिब हुए थे। "बस, अब चार साल और जम के मेहनत कर लो…बी० ए० हो जाओगे, तो मेरी साध पूरी हो जाएगी… हमारे खानदान में तो किसीने मैट्रिक तक पास नहीं किया था।…"

बी० ए० भी हो जाएगा, फिकर क्यों करते हो !" मां ने कड़ाही पर से ढक्कन हटाकर सब्जी को चलाते हुए कहा था। फिर कड़ाही को नीचे उतारते हुए बोली थी, "अब अपना कौल पूरा करो—साइकल ले दो इसे…"

"ले दूंगा, भागवान…आज ही ले दूंगा…" पिता ने मुसकराकर मोहन की ओर देखा था। "अड्डे पर आ जाना…"

मोहन ने सिर हिला दिया था।

मां ने पल्लू से पसीना पोंछा था और फिर चूल्हे पर तवा रखते हुए बोली थी, "रोटी साथ ही ले जाओगे या मोहन के हाथ भेज दूं…?"

"दे ही दो…वरना हाथ खाला-खाला लगेगा…"

मां रोटी बनाने लगी थी।

बस-अड्डे जाते हुए पिता दुर्गादास जयचंद साइकल वाले के पास रुक गये थे। रास्ते से उन्होंने सोमनाथ हलवाई से लड्डू तुलवाकर टोकरी में डलवा लिए थे—बल्कि उस टोकरी में से एक लड्डू सोमनाथ को और एक उसके नौकर को भी दे दिया था, "तुम भी कब-कब खाते होगे लड्डू, सोमनाथ !" उन्होंने हंसते हुए कहा था। "शगुन भी हो जाएगा, तुम्हें अपने लड्डुओं का स्वाद भी पता चल जाएगा !"

जयचंद की दूकान तक पहुंचते-पहुंचते आधी टोकरी खाली हो चुकी थी।

उन्होंने अपने सामने नयी साइकल निकलवाई थी और कहा था, "जयचंद अब छोती को दुल्हिन की तरह सजा दो…"

"अभी सज जाती है, ला' जी।" जयचंद ने लड्डू का स्वाद लेते हुए

कहा था। "आप बस हुक्म करते जाइए।"

जयचंद एकदम सीकिया जवान था। पैंतीस-सैंतीस की उम्र। पतला, लंबोतरा चेहरा। पर उसने मूछें बड़ी जोरदार रखी हुई थीं। दुर्गादास जी ने उसकी दूकान जमवाने में काफी मदद की थी और वह उनका अहसान मानता था।

साइकल पर सामने की टोकरी, दो घंटियां, एक बड़ा-सा शीशा, और हैंडिल पर बत्ती और रूमाल—ये सब चीजें लग गईं, तो जयचंद बोला, "ला' जी, पीछे वाली बत्ती भी लगा दूं ?"

"लगा दो—वह भी लगा दो! लड़का मानने वाला थोड़े ही है उसके बगैर!" दुर्गादास सन्तुष्ट हो गए थे। बोले, "मैं अड्डे जा रहा हूं—देर हो रही है। साइकल भेज देना और बिल भी—पैसे वाजिब लगाना···"

"दूकान आपकी है, ला' जी," जयचंद बड़े विनम्र भाव से बोला था। "पैसों का क्या है···"

दुर्गादास हंस दिए थे—उनकी आवाज जितनी रौबदार थी, हंसी उतनी ही खनकदार थी। चलते-चलते उन्हें किसी बात का ध्यान आ गया था और वह रुक गए थे, "जयचंद!"

"हां, ला' जी···"

"इस लोहे की घोड़ी को फुंदने भी लगा देना···"

"अच्छा जी···वो भी लग जाएंगे···"

बस-अड्डे पर दुर्गादास जी का अपना छोटा-सा दफ्तर था, उनकी तीन बसें चलती थीं।

दोपहर होने को आ रही थी। सूरज धरती पर अपनी गरमी ऐसे उंडेल रहा था, जैसे वह खुद भी उससे परेशान हो रहा हो। जमीन से तपिश की लहरें उठ रही थीं। गलती से भी किसीके दाने जमीन पर गिर गए होते, तो बिना-भाव भुन जाते।

दफ्तर में एक ही टेबल फैन था, जो एक स्टूल पर रखा था। एक कोने में सुराही पड़ी थी, रेत से आधी दबी हुई। रेत भी गीली। पानी को ठंडा करने का इससे अच्छा कोई तरीका नहीं था।

देवी मां जब बुलावा भेजे, तो मैं जाकर चुन्नी चढ़ा आऊं···"

पिता खटिया पर बैठ गए थे।

"हां-हां···जरूर चढ़ाना, तुम्हें रोका किसने है?" पिता बोले थे। फिर मोहन की ओर मुखातिब हुए थे। "बस, अब चार साल और जम के मेहनत कर लो···बी० ए० हो जाओगे, तो मेरी साध पूरी हो जाएगी··· हमारे खानदान में तो किसीने मैट्रिक तक पास नहीं किया था।···"

बी० ए० भी हो जाएगा, फिकर क्यों करते हो!" मां ने कड़ाही पर से ढक्कन हटाकर सब्जी को चलाते हुए कहा था। फिर कड़ाही को नीचे उतारते हुए बोली थी, "अब अपना कौल पूरा करो—साइकल ले दो इसे··"

"ले दूंगा, भागवान···आज ही ले दूंगा···" पिता ने मुसकराकर मोहन की ओर देखा था। "अड्डे पर आ जाना···"

मोहन ने सिर हिला दिया था।

मां ने पल्लू से पसीना पोंछा था और फिर चूल्हे पर तवा रखते हुए बोली थी, "रोटी साथ ही ले जाओगे या मोहन के हाथ भेज दूं···?"

"दे ही दो···वरना हाथ खाला-खाला लगेगे···"

मां रोटी बनाने लगी थी।

बस-अड्डे जाते हुए पिता दुर्गादास जयचंद साइकल वाले के पास रुक गये थे। रास्ते से उन्होंने सोमनाथ हलवाई से लड्डू तुलवाकर टोकरी में डलवा लिए थे—बल्कि उस टोकरी में से एक लड्डू सोमनाथ को और एक उसके नौकर को भी दे दिया था, "तुम भी कब-कब खाते होगे लड्डू, सोमनाथ!" उन्होंने हंसते हुए कहा था। "शगुन भी हो जाएगा, तुम्हें अपने लड्डुओं का स्वाद भी पता चल जाएगा!"

जयचंद की दूकान तक पहुंचते-पहुंचते आधी टोकरी खाली हो चुकी थी।

उन्होंने अपने सामने नयी साइकल निकलवाई थी और कहा था, "जयचंद अब लोती को दुल्हन की तरह सजा दो···"

"अभी सज जाती है, ला' जी।" जयचंद ने लड्डू का स्वाद लेते हुए

कहा था। "आप बस हुक्म करते जाइए।"

जयचंद एकदम सीकिया जवान था। पैंतीस-सैंतीस की उम्र। पतला, लंबोतरा चेहरा। पर उसने मूछें बड़ी जोरदार रखी हुई थीं। दुर्गादास जी ने उसकी दूकान जमवाने में काफी मदद की थी और वह उनका अहसान मानता था।

साइकल पर सामने की टोकरी, दो पटियां, एक बड़ा-सा शीशा, और हैंडिल पर बत्ती और रूमाल—ये सब चीजें लग गईं, तो जयचंद बोला, "ला' जी, पीछे वाली बत्ती भी लगा दूं?"

"लगा दो—वह भी लगा दो! लड़का मानने वाला थोड़े ही है उसके बगैर!" दुर्गादास सन्तुष्ट हो गए थे। बोले, "मैं अड्डे जा रहा हूं—देर हो रही है। साइकल भेज देना और बिल भी—पैसे वाजिब लगाना…"

"दूकान आपकी है, ला' जी," जयचंद बड़े विनम्र भाव से बोला था। "पैसों का क्या है…"

दुर्गादास हंस दिए थे—उनकी आवाज जितनी रोबदार थी, हंसी उतनी ही खनकदार थी। चलते-चलते उन्हें किसी बात का ध्यान आ गया था और वह रुक गए थे, "जयचंद!"

"हां, ला' जी…"

"इस लोहे की घोड़ी को फुंदने भी लगा देना…"

"अच्छा जी…वो भी लग जाएंगे…"

बस-अड्डे पर दुर्गादास जी का अपना छोटा-सा दफ्तर था, उनकी तीन बसें चलती थीं।

दोपहर होने को आ रही थी। सूरज धरती पर अपनी गरमी ऐसे उंडेल रहा था, जैसे वह खुद भी उससे परेशान हो रहा हो। जमीन से तपिश की लहरें उठ रही थीं। गलती से भी किसीके दाने जमीन पर गिर गए होते, तो बिना-भाव भुन जाते।

दफ्तर में एक ही टेबल फैन था, जो एक स्टूल पर रखा था। एक कोने में सुराही पड़ी थी, रेत में आधी दबी हुई। रेत भी गीली। पानी को ठंडा करने का इससे अच्छा कोई तरीका नहीं था।

दुर्गादास जी पंखे की हवा के बावजूद पसीना-पसीना हो रहे थे। रजिस्टर में हिसाब-किताब लिख रहे थे, लेकिन हाथ का पसीना रजिस्टर को भी भिगोये दे रहा था। उन्होंने पगड़ी को उतारकर मेज पर ही रख लिया था और कमीज के ऊपर वाले दो बटन भी खोल लिये थे। उनके खिचड़ी बाल और मूंछें, कानों की चमकती हुई सोने की मुरकियां—सब पसीने से सराबोर हो रहे थे।

"रक्खे ! ...ओ रक्खे !" उन्होंने आवाज दी। रामरक्खा उनका नौकर था, लेकिन उस वक्त वह अपने स्टूल पर नहीं था। दुर्गादास जी को प्यास लगी थी, वह झुंझला गये। फिर उठकर खुद ही पानी का गिलास भरकर पीने लगे।

तभी बाहर एक बस आकर रुकी। दुर्गादास जी ने आवाज से ही पहचान लिया, उन्हींकी बस थी। थोड़ी ही देर बाद ड्राइवर मक्खन सिंह चिक उठाकर अंदर आ गया।

"सास्रीकाल, ला' जी !" मक्खन सिंह ने आते ही कहा, दुर्गादास जी ने जवाब में अपनी गरदन हिला दी।

मक्खन सिंह पचास के आस-पास का जाट था। लुंगी उसने जट के ंग से ही बांध रखी थी और ऊपर कमीज पहन रखी थी। वह जूतियां ड़काता हुआ आया और दुर्गादास जी की मेज के पास रखी कुर्सी पर ैठ गया। उसके हाथ में अलगोजा था, जिसे उसने मेज पर रख दिया।

दुर्गादास जी वापस आकर कुर्सी पर बैठे, तो मक्खन सिंह की नजर नयी साइकल की तरफ चली गयी।

"क्या बात है, ला' जी...सैकल रख लई है ?" उसने पूछा।

"नहीं, मक्खन सिंह ! मैं अब इस उम्र में क्या साइकिल चलाऊंगा!" दुर्गादास जी हंसते हुए बोले, "मोहन के लिए है," फिर उन्होंने लड्डुओं वाली टोकरी मक्खन के सामने कर दी। "लो, लड्डू खाओ ! मोहन पास हो गया है..."

"इच्छा ! यह तो बड़ी चंगी खबर है जी !" मक्खन ने लड्डू उठा लिया, "मुबारकां !"

"और सुनाओ—गाड़ी ने कोई तकलीफ तो नहीं दी रास्ते में ?"

"नईं जी—बिल्कुल नईं! मेरे नांव की तरह चलदी रई है!" मक्खन ने लड्डू मुंह में डाल लिया।

तभी मोहन आ पहुंचा था।

"आ-आ पुत्त! तेरा ही जिकर हो रहा था!" मक्खन ने किसी तरह लड्डू को गले से नीचे उतारते हुए कहा। फिर उसे मेज पर रखे अलगोजे का ध्यान आ गया। उसने अलगोजा उठाकर मोहन की ओर बढ़ा दिया, 'यह लो, मेरा तोहफा!"

मोहन ने अलगोजा ले लिया था।

अलगोजा वाकई खूबसूरत था। बड़े उजले रंगों वाला और उसका बीच का हिस्सा बारीक तार के डिजाइन में ढका हुआ था। वह अलगोजे को प्यार से देख ही रहा था कि दुर्गादास जी के शब्द उसके कानों में टकरा गए, "क्या बात है मक्खन सिंह! मेरे मोहन को सचमुच का कृष्ण कन्हैया बनाने का ख्याल है!" साथ ही उनकी खनखनाती हुई, शरारत-भरी हंसी गूंज उठी थी।

"नहीं, ला' जी। एक बस-अड्डे पर बिक रहे थे—मैंने खरीद लिया..."

मोहन दीवार के साथ रखी नयी साइकिल को हसरत-भरी निगाहों से देखने लगा। पास जाकर उसने गद्दी पर हाथ रखा। गद्दी काफी नरम थी। हैंडल को छुआ, तो वह गरम लगा। दो-तीन पल वह ऊहापोह में खड़ा खामोश रहा। फिर धीमे स्वर में बोला, "ले जाऊं, बाऊजी?"

"तुम्हारी चीज है, ले जाओ...यहां अड्डे देने के लिए तो रखी नहीं है!" बाऊजी बोले थे और मोहन ने अलगोजे को साइकिल की टोकरी में डालकर हैंडल से पकड़कर साइकल को ठेल लिया था। वह बाहर निकलने को ही था कि दुर्गादास बोल उठे थे, "अब सारा दिन इस खोती पर आवारागर्दी मत करते रहना..."

मोहन ने रुककर बात को सुन लिया था और फिर बिना कुछ बोले बाहर चला गया था। जाते-जाते उसके कानों से दुर्गादास जी के ये शब्द भी टकरा गए थे—"मुण्डर का पुत्तर! लड़कियों की तरह शरमाता है..."

मक्खन को और कुछ नहीं सूझा था, तो उसने अपनी हथेली फैला दी थी—"ला' जी, एक लड्डू होर···"

दुर्गादास जी मुस्करा दिए थे और उन्होंने टोकरी मक्खन सिंह की ओर बढ़ा दी थी।

साइकल मिलते ही जैसे मोहन को पर लग गए थे। उसे गरमी और लू की भी परवाह नहीं रह गई थी। वह भरी दोपहरी में ही पूरे शहर का चक्कर लगा गया था। जी० टी० रोड से होता हुआ वह शहर के पुराने मोहल्लों में उतर गया था, वहां से बाहर के खंडहरों की ओर। फिर खेतों के बीच बनी पगडंडियों से होता हुआ वह देवी मंदिर का चक्कर लगा आया था। किले पर बनी सड़क पर उसने चढ़ने की कोशिश की थी, लेकिन अधबीच ही उसका दम फूल गया था। बाकी की चढ़ाई उसने साइकल को अपने साथ ठेलते हुए पूरी की थी और फिर ऊपर पहुंचते ही साइकल पर दुबारा सवार हो गया था। आगे फिर ढलान थी, पैडल मारने की जरूरत ही नहीं थी। सड़क लखौरी ईंटों की थी और उसमें जगह-जगह गड्ढे थे। फिर भी उस ढलान पर साइकल को दौड़ाते हुए उसे बड़ा मजा आया था।

फिर किले के साथ-साथ गई सड़क से गुजरते हुए वह बारादरी में आ गया था।

आजादी-भरी इस 'यात्रा' ने मोहन का दिल हवा की तरह हलका कर दिया था।

लेकिन घर की दहलीज में पांव रखते ही उसका सारा हलकापन काफूर हो गया। बाऊजी घर आ चुके थे। वे बोलते जा रहे थे। उनकी आवाज में चिड़चिड़ापन था और खीज थी।

मां खाना बनाने में व्यस्त थी और सिर झुकाए सुनती जा रही थी।

"यही खराबी है तुम्हारे लाड़ले में! रात होने को आ गई, उसका अभी तक पता नहीं है···बस···अवारागर्दी! सारा दिन आवारा-गर्दी!" बाऊजी बोलते जा रहे थे।

मोहन के पैरों में जैसे कीलें ठोक दी गई थीं। वह दहलीज पार नहीं कर पा रहा था।

"आ जाएगा···क्यों अपना खून जला रहे हो?" मां ने भी खीजकर कह दिया था।

"खून न जलाऊं, तो क्या घी पियूं?" बाऊजी के गुस्से की आग और भी भड़क उठी। "मोहन की मां, जो आदमी वक्त की कद्र नहीं करता, वक्त भी उसकी कोई कद्र नहीं करता!" बाऊजी आप्त वचनों पर उतर आए थे।

दहलीज में खड़े रहने का कोई मतलब नहीं था। मोहन ने पांव आगे बढ़ा दिया।

साइकल के पहियों की हलकी-हलकी आवाज ने दुर्गादास जी का ध्यान खींच लिया। मोहन के थके हुए चेहरे पर उनकी आंखें दो क्षणों के लिए टिकीं। मोहन ने आंख नहीं मिलाई, फिर बाऊजी मां से ही कहने लगे, "लो, देख लो अपने साहबजादे की सूरत! सूरमा सारा शहर फतह करके आए हैं!"

मोहन वैसे ही पिता के सामने मुंह नहीं खोलता था। इस वक्त तो कुछ भी कहने का सवाल ही नहीं उठता था। अपनी साइकल को ठेलते हुए वह सीढ़ियों की तरफ चल दिया।

सीढ़ियों के पास पहुंचकर उसने साइकिल को कंधे पर उठा लिया। उसने पहला कदम उठाया ही था कि बाऊजी का सवाल आया:

"कहां से आ रहे हो?"

मोहन कुछ नहीं बोला।

"बोलते क्यों नहीं? जबान गिरवी रख आए हो क्या?" आवाज में तुर्शी बढ़ गई थी।

मोहन को लगा, अब कुछ न कुछ कहना ही पड़ेगा। उसने कुछ बोलने के लिए मुंह खोला ही था कि बाऊजी की तेज आवाज ने उसका मुंह बंद कर दिया।

"हां-हां, सोच लो कोई बहाना···बोल दो कोई झूठ! पर यह मत कहना कि सारा दिन सड़कें नापते रहे हो!···अरे, इतना ही [illegible]

रोड-इंस्पेक्टरी का तो पढ़-लिख लो, नौकरी मैं दिलवा दूंगा, ओवरसियर की ! सारा दिन सड़कें नापते रहना !"

"अब बस भी करो !" मां ने उन्हें टोक दिया, "तुम तो सवार ही हो जाते हो एकदम ! ···" फिर वह मोहन से बोली, "चल, हाथ-मुंह धो ले···मैं खाना लगा रही हूं···"

दुर्गादास जी तारा की ओर घूरकर रह गए।

मोहन साइकल को उठाकर सीढ़ियां चढ़ने लगा, तो दुर्गादास जी ने हुक्के की नाल अपनी तरफ खींच ली। दो-एक कश लेने के बाद वह बोल उठे, "नई दुल्हन है···चार-छह दिन कमरे में संवारकर रखेगा··· बाद में गू खाती रहेगी आंगन में···"

खाना खाते समय दुर्गादास जी तो सामान्य हो चुके थे। लेकिन मोहन मन ही मन कुढ़ रहा था। थोड़ी देर पहले की डांट का असर तो था ही, यह खीज भी थी कि बाऊजी एक वक्त में एक काम करने में यकीन क्यों नहीं रखते ! नहाते हैं, तो बोलते हैं, चलते हैं, तो बोलते हैं, हुक्का पीते हैं, तो बोलते हैं। अब खाना खा रहे हैं, तब भी उनका बोलना जारी है !

वह चुपचाप सिर झुकाए खाना खा रहा था और बाऊजी खाते भी जा रहे थे और उपदेश भी देते जा रहे थे। "आदमी उद्यम से ही इन्सान बनता है···वरना आदमी और सूअर में फर्क ही क्या है ?" उन्होंने मोहन की तरफ देखा, लेकिन उसकी ओर से कोई प्रतिक्रिया न पाकर वह बोले, "मैं तुम्हींसे कह रहा हूं, सूअर !"

मोहन ने चिहुंककर बाऊजी की ओर देखा, फिर सिर झुकाकर खाने लगा।

दुर्गादास जी ने अपना भाषण जारी रखा, "आदमी जी लगा के मेहनत करे, तो फल उसे जरूर मिलता है। मुझे ही देख लो···चौदह साल का था, जब तुम्हारे दादा की मौत हुई, क्या-क्या नहीं किया मैंने घर चलाने के लिए ! गांव-गांव कपड़े की फेरी लगाई···बसों में कुलीगीरी की···फिर अपना काम शुरू किया···घर बनाया···शादी की···आज

तीन-तीन वर्ष हैं मेरे पास···किस चीज की कमी है ! पैसा है, मान है, इज्जत है···लोग अदब और प्यार से बात करते हैं। इन्सान को और क्या चाहिए···आदमी में मेहनत का माद्दा होना चाहिए। बस, फिर नो प्रॉब्लम !"

मोहन का हाथ थाली पर ही अटका रह गया था। दुर्गादास जी का ध्यान उधर गया, तो उन्होंने झिड़क दिया, "रोटी खाओ···मैं तुम्हारा बाप हूं, कोई दुश्मन नहीं···"

मोहन ने फिर खाना शुरू किया, तो बाऊजी का एक और वचन और आ गया, "इनसान को चाहिए कि वह अपने दिलो-दिमाग को लोहे का बना ले, ताकि कोई मुसीबत आए, तो इनसान न टूटे—मुसीबत टूट-कर पीछे हट जाए···"

खाना खत्म हुआ, तो मोहन ने चाहा कि वह तुरंत अपने कमरे में चला जाए। दिन-भर की थकान, धूप-लू की गरमी और बाऊजी के उपदेशों ने उसे बहुत थका दिया था। लेकिन बाऊजी ने उसे फिर बिठा लिया।

दुर्गादास जी की आदत थी, खाना खाने के बाद वह थोड़ी देर कुरसी पर बैठकर आराम करते थे। थोड़े-से सौंफ खाते थे और फिर हुक्के के चार-छह कश लगाकर सोने जाते थे।

टांग पर टांग चढ़ाए वह हाथों को रगड़कर सौंफ को साफ कर रहे थे। फिर उन्होंने फूंक मारकर तिनकों को उड़ाया, सौंफ को मुंह में डाला और उसे चबाने लगे।

मोहन हाथों में डायरी लिये खटिया पर बैठा था।

दुर्गादास जी ने एक नजर उसपर डाली, मुंह में भरे सौंफ के रस को गले से नीचे किया और फिर बोले, "यह डायरी मैंने तुम्हें इसलिए दी है कि अपनी गलतियां और अच्छाइयों का हिसाब-किताब रख सको। तुम मुझसे झूठ बोल लोगे, मां से भी झूठ बोल लोगे, लेकिन डायरी से नहीं बोल पाओगे···इनसान अपनी गलतियों को समझे और उन्हें सुधारने की कोशिश करे, तो समझ लो, जिंदगी में नो प्रॉब्लम ! समझे ?"

"जी, बाऊजी !" मोहन ने फौरन जवाब दिया। अब और बैठे

रहना उसके लिए मुमकिन नहीं था। वह उठ खड़ा हुआ।

"एक बात याद रखो," बाऊजी फिर बोलने लगे, लेकिन उनका स्वर पहले-सा तल्ख नहीं था। "हर बाप की यह ख्वाहिश होती है कि उसकी औलाद उससे बेहतर साबित हो..."

मोहन सिर झुकाए खड़ा रहा।

"समझे या नहीं?"

"जी, बाऊजी..."

मोहन सीढ़ियों की तरफ चलने लगा, तो तारा ने दुर्गादास जी से पूछा, "तुम्हारा बिस्तर कहां लगाऊं? आंगन में या अंदर?"

"गरमी है, भागवान...आंगन में ही लगा दो—लेकिन रुको, पहले मैं पानी छिड़क देता हूं..."

दुर्गादास जी ने नल से पानी की दो-तीन बाल्टियां भरकर आंगन में डाल दीं। तपते हुए फर्श से गरमी की लहरें उठ रही थीं। तारा ने खटिया बिछाकर बिस्तर लगा दिया।

दुर्गादास जी बिस्तर पर लेट गए। फिर जैसे खुद ही से बोले, "समझ नहीं आता हमारे घर में इतना दब्बू लड़का कैसे पैदा हो गया..."

"दब्बू तुम्हींने बनाया है उसे!" तारा बोली, "पहले लाड़ लड़ाते रहे, अब डांटते हो..."

"लाड़ तो तुमने भी कब नहीं किया!"

"क्या करती...छह-छह बच्चे हुए और बचा एक भी नहीं...मोहन होने वाला था, तो दिन-रात यही प्रार्थना दिल से उठती थी—इसे बचाए रखना, मेरे प्रभु...हथेली के छाले की तरह रखूंगी इसे..."

"वह तो ठीक है, तारो...पर मुझे डर है, हथेली का यह छाला किसी दिन दिल का फफोला न बन जाए..." दुर्गादास जी ने एक लंबी आह खींच ली।

"फिजूल की बातें बहुत सोचते हो!" तारा ने हल्के से झिड़क दिया उन्हें, फिर पूछा, "दूध अभी लाऊं या रुककर पियोगे?"

"ले आओ..." वह अनमने-से बोले।

तारा रसोई की ओर चली गई।

मोहन अक्सर अपने-आपमें गुम रहता था, लेकिन ऐसे दिन उसे और भी अंतर्मुखी बना जाते थे। शायद कोई ही दिन ऐसा हो, जब बाऊजी उसे डाटते-फटकारते न हों। लेकिन वह इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाता था कि यह उनकी आदत है—और आदतों को ज्यादा गंभीरता से नहीं लेना चाहिए। बाबूजी एक विशालकाय दहशत बनकर उसकी चेतना में पैठ गए थे।

वह डायरी खोले बैठा था। आधा साल निकल चुका था। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि उस डायरी में वह क्या लिखे। चीजों को ज्यादा विश्लेषित करने की उसकी आदत नहीं थी, वरना शायद वह अपनी आज तक की जिंदगी और अपने रिश्तों को ही डायरी में लिख डालता। डायरी के पहले पन्ने पर उसने अपना नाम जरूर लिख दिया था और उसके बाद आज की तारीख का पन्ना खोलकर बैठ गया था।

पन्ने पर लिखी हुई तारीख कल इतिहास और अतीत की चीज हो जायेगी। इतिहास गंभीरता की अपेक्षा रखता है। झूठा इतिहास लोगों को गुमराह कर सकता है—इस ख्याल से ही मोहन का सारा तनाव धुल गया। उसे लगा, वह किसी दार्शनिक की तरह 'सोचने' लगा है। किसी प्रोफेसर की तरह ···और उसकी कलम डायरी के उस खाली पन्ने पर चलने लगी। उसने लिखा :

"आज बाऊजी ने यह डायरी और नयी साइकल मुझे दी है—मेरे पास होने की खुशी में। कहते हैं, मैं सबसे झूठ बोल लूंगा, डायरी से नहीं बोल पाऊंगा।

"बाऊजी ऐसे क्यों हैं ? इतना गुस्सा उनमें कहां से आ गया ? क्या सेल्फमेड आदमी ऐसा ही होता है ?

" बाऊजी कहते हैं, काम कोई भी करो, पूरी लगन और मेहनत से करो, फल भाग्य पर छोड़ दो—तो, नो प्रॉब्लम ! ···लेकिन प्रॉब्लम कैसे नहीं ?···"

इसके आगे उसे कुछ नहीं सूझा। थोड़ी देर वह वैसे ही बैठा रहा, फिर डायरी और पेन उठाकर बिस्तर पर लेट गया।

बाऊजी ने उसके विचारों को ग्रस रखा था···

…तब मोहन आठवीं कक्षा में पढ़ता था…हकीम हीरालाल का बेटा चंदर उसका सहपाठी और दोस्त था। दोनों अक्सर साथ रहते थे, साथ खेलते थे। चंदर के घुंघराले बाल मोहन को बहुत अच्छे लगते थे और अपने पिता की ही तरह चंदर सलवार-कमीज पहनता था।

उस दिन दोनों में शर्त लग गयी थी। चंदर कहता था—पहली बार सिगरेट पीने से आदमी को चक्कर आ जाता है, खांसते-खांसते उसका दम निकल जाता है। मोहन ने कहा था, कोई जरूरी नहीं है।

स्कूल से छुट्टी होने के बाद चंदर मोहन को अपने पिता की दूकान पर ले गया था। पिता दोपहर को घर खाना खाने जाते थे। तब चंदर को दो-तीन घंटों तक दूकान पर ही बैठना होता था।

दूकान पर पहुंचकर चंदर ने अपनी कमीज की जेब से दो बीड़ियां निकाल ली थीं—और मोहन को दूकान के पिछले कमरे में ले गया था। भगवान की मूर्ति के सामने से उसने माचिस उठाई थी और दोनों बीड़ियां सुलगाकर एक मोहन की ओर बढ़ा दी थी।

मोहन ने एक भरपूर कश लिया था और दूसरे ही क्षण वह बुरी तरह खांसने लगा था। उसे सचमुच चक्कर आ गया था।

चंदर हंसने लगा था। "क्यों बेटे! हमने क्या कहा था!"

मोहन कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। उसकी हालत खराब थी। पूरा बदन पसीने से तर हो गया था। बीड़ी को वहीं फेंककर वह सिर पकड़कर बैठ गया था।

चंदर ने बीड़ी को उठाकर दूकान से बाहर फेंक दिया था और एक चम्मच गुलकंद ले आया था। मोहन को देते हुए वह बोला था, "ले, खा ले, अभी ठीक हो जायेगा…"

मोहन ने गुलकंद को निगल लिया था, पर उसका स्वाद भी अजीब लग रहा था। लगता था, जैसे उसमें भी तंबाकू घुल गया हो। फिर चंदर ने एक गिलास पानी उसे दिया था। पानी पीने से मोहन का सिर कुछ-कुछ ठीक हो गया था।

"निकाल दस्सी!' उसे सामान्य होते देख चंदर बोला था। "शर्त हार गया न!"

"दस्सी मैं जरूर देता···" मोहन ने कहा, "पर तुमने बदमाशी की! शर्त सिगरेट की थी, बीडी की नहीं!"

"यह बात है! ···तो ठीक है। तुम सिगरेट का असर भी देख लो।"

"ठीक है, कल वह भी देख लेंगे।"

और थोड़ी देर वहां और बैठे रहने तथा हकीम साहब के गुलकंद के मर्तबान को थोड़ा-सा और खाली कर देने के बाद मोहन वहां से चला आया था।

मोहन को जेब-खर्च के लिए दस पैसे रोज पिता से मिलते थे। बाजार से चीजें लेकर खाने की उसकी ज्यादा आदत नहीं थी। अक्सर वह पैसों को अपनी गुल्लक में डाल देता था। और जब गुल्लक भर जाती थी, तो अपने काम की कोई चीज खरीद लाता था। पतंग और डोर ऐसे ही आती थी। एक बार वह बाजार से चमड़े की बैल्ट ले आया था। 'चंदामामा' जैसी पत्रिकाएं भी इसी पैसे से आती थीं।

पर उस दिन उसने एक सिगरेट खरीद लिया और उसे बस्ते में छिपा-कर रख लिया।

दूसरे दिन वह घर में सबसे पहले उठा था। सिगरेट को उसने निक्कर की जेब में रख लिया था। एक टूटी हुई दियासलाई की डिबिया का मसाले वाला टुकड़ा तथा तीन-चार तीलियां भी उसने जेब में डाल ली थीं।

तब वह छत पर बने पाखाने में घुस गया था। उसकी नजर में सिग-रेट का परीक्षण करने के लिए इससे ज्यादा सुरक्षित जगह और नहीं थी।

पाखाने में बैठे-बैठे कांपते हुए हाथों से उसने सिगरेट को होंठों में लगाया और फिर दियासलाई को जलाने की कोशिश करने लगा। दो सींकें बेकार हो गईं। तीसरी किसी तरह जली, पर सिगरेट के पास तक पहुंचते-पहुंचते वह भी बुझ गई। अब एक ही सींक बची थी। मोहन झुंझला उठा। उसने ज्यादा तीलियां क्यों न रख लीं! खैर, किसी तरह उसने तीली को सिगरेट के करीब रखकर ही जलाया और झट से उसे सिगरेट के पास रख दिया। दो-तीन सुट्टे खींचते ही सिगरेट सुलग गई,

साथ ही खांसी का दौरा शुरू हो गया···

तभी आंगन से बाऊजी की आवाज आई थी, "मोहन की मां ! मोहन कहां है ? आज इत्ती जल्दी कैसे उठ गया !"

"जोर पड़ा होगा···रात को कहता था, दुखता है···" मां की आवाज पर सुनाई दी थी। और उसके साथ ही सीढ़ियों पर पिता के कदमों की धमक आने लगी थी। मोहन की रूह कांप गई थी।

उसने जल्दी से सिगरेट को मोरी में फेंक दिया और उसपर पानी डाल दिया, लेकिन दरवाजे की दरार में से बाहर निकलती धुएं की लकीर पर पिता की नजर पड़ गई थी।

पिता मुलायम मन लिए ऊपर आए थे, पर धुएं की लकीर देखते ही उनका माथा ठनक गया। कड़ककर उन्होंने आवाज दी, "मोहन !"

मोहन की जान सूख गई। जल्दी-जल्दी पानी गिराकर उठा, तो हाथ कांप उठे। घबराहट में निक्कर के बटन ऊपर-नीचे लग गए।

"बाहर निकल, हरामजादे !" पिता की दूसरी आवाज आई। मोहन ने दरवाजा खोला, तो पिता ने सीधे उसका कान पकड़ लिया। "क्या कर रहा था अंदर ? सच बता दे, वरना कान सिर से अलग हो जाएगा !"

"कुछ नहीं, बाऊजी···"

पिता ने कान को और जोर से उमेठ दिया था। मोहन की आंखों में आंसू आ गए थे।

"सूअर की औलाद ! झूठ बोलता है ! कुछ नहीं कर रहा था, तो धुआं तेरी मां के पेट से निकल रहा था ! सच बता दे, सिगरेट पीना कहां से सीखा ?···"

"सीखा नहीं बाऊजी···पहली बार···"

"सच कहता है ?"

"हां, बाऊजी···देवी की सौंह···" मोहन रोने को हो आया था···

पिता ने कान छोड़ दिया था। बोले थे, "जरूर तेरी सोहबत हकीम के पूत से है···वही ये करतूतें करता फिरता है···"

मोहन को लगा, बात बढ़ेगी। यों ही बोल गया : "नहीं बाऊजी···"

"फिर झूठ ! चल भाग जा नीचे, वरना आज सुबह-सुबह तेरी खाल छिल जाएगी। हकीम के बेटे से मैं अपने-आप निपट लूंगा···और पिता पाखाने वाले डिब्बे में पानी उंडेलने लगे थे। फिर भीतर घुसते हुए बोले, "जाकर नहा ले···स्कूल को देर हो जाएगी···"

नीचे उतरकर मोहन नहाने-धोने में लग गया था। उसका मुंह फूला हुआ था। मां ने कुछ-कुछ बात सुन ली थी, पर बाप-बेटे के बीच खाम-खाह आना उसे पसंद नहीं था। न ही वह किसीकी तरफदारी करती थी। पति का स्वभाव वह जानती थी।

उस दिन मोहन स्कूल के लिए जितनी जल्दी तैयार हुआ था, उतनी जल्दी तैयार हो सकने की वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उनका मन कह रहा था, वह पिता के नीचे उतरकर आने से पहले ही स्कूल चला जाए। लेकिन बहुत जल्दी तैयार होने के बावजूद वह मां की दी हुई दही-रोटी खा रहा था, जब पिता आ गए थे। यह तो अच्छा हुआ कि एक बार घूरकर देखने के अलावा पिता ने कुछ नहीं कहा। वह एक नजर ही मोहन के गले में रोटी को अटका देने के लिए काफी थी। पिता दातुन करने लगे और खों-खों करके गला साफ करने लगे, पर मोहन से और नहीं खाया गया।

मां ने स्कूल के लिए नमकीन पराठा चौपर्त में बांधकर दिया। मोहन ने उसे जल्दी से बस्ते में रखा और स्कूल के लिए चल पड़ा।

आंगन में नल के पास बैठे बाऊजी नहाने लगे थे। और साथ ही अपना नियमित कृष्ण-स्तोत्र गायन भी करने लगे थे। मोहन ने उनकी ओर देखे बिना ही द्वार की ओर कदम बढ़ा दिए कि पीछे से आवाज आई थी, "हरामजादे, अब दुबारा गलती नहीं होनी चाहिए। तुमने सच बोल दिया, इसलिए बच गये, वरना दो कानों के बीच सिर कर देता···"

और द्वार के बाहर होते हुए मोहन ने बाऊजी का तकिया कलाम सुना था, "सच्चे इनसान के लिए दुनिया में···नो प्रॉब्लम···"

···अब बिस्तर पर लेटे-लेटे उसे ऐसा लग रहा था जैसे बाऊजी ने एक बार फिर उसका कान उमेठ दिया हो और उसका पूरा सिर दर्द में

साथ ही खांसी का दौरा शुरू हो गया···

तभी आंगन से बाऊजी की आवाज आई थी, "मोहन की मां! मोहन कहां है? आज इत्ती जल्दी कैसे उठ गया!"

"जोर पड़ा होगा···रात को कहता था, दुखता है···" मां की आवाज पर सुनाई दी थी। और उसके साथ ही सीढ़ियों पर पिता के कदमों की धमक आने लगी थी। मोहन की रूह कांप गई थी।

उसने जल्दी से सिगरेट को मोरी में फेंक दिया और उसपर पानी डाल दिया, लेकिन दरवाजे की दरार में से बाहर निकलती धुएं की लकीर पर पिता की नजर पड़ गई थी।

पिता मुलायम मन लिए ऊपर आए थे, पर धुएं की लकीर देखते ही उनका माथा ठनक गया। कड़ककर उन्होंने आवाज दी, "मोहन!"

मोहन की जान सूख गई। जल्दी-जल्दी पानी गिराकर उठा, तो हाथ कांप उठे। घबराहट में निक्कर के बटन ऊपर-नीचे लग गए।

"बाहर निकल, हरामजादे!" पिता की दूसरी आवाज आई। मोहन ने दरवाजा खोला, तो पिता ने सीधे उसका कान पकड़ लिया। "क्या कर रहा था अंदर? सच बता दे, वरना कान सिर से अलग हो जाएगा!"

"कुछ नहीं, बाऊजी···"

पिता ने कान को और जोर से उमेठ दिया था। मोहन की आंखों में आंसू आ गए थे।

"सूअर की औलाद! झूठ बोलता है! कुछ नहीं कर रहा था, तो धुआं तेरी मां के पेट से निकल रहा था! सच बता दे, सिगरेट पीना कहां से सीखा?···"

"सीखा नहीं बाऊजी···पहली बार···"

"सच कहता है?"

"हां, बाऊजी···देवी की सौंह···" मोहन रोने को हो आया था···

पिता ने कान छोड़ दिया था। बोले थे, "जरूर तेरी सोहबत हकीम के पूत से है···वही ये करतूतें करता फिरता है···"

मोहन को लगा, बात बढ़ेगी। यों ही बोल गया; "नहीं बाऊजी···"

"फिर भूठ ! चल भाग जा नीचे, वरना आज सुबह-सुबह तेरी खाल छिल जाएगी। हकीम के बेटे मे मैं अपने-आप निपट लूंगा"'और पिता पाखाने वाले डिब्बे में पानी उंडेलने लगे थे। फिर भीतर घुसते हुए बोले, "जाकर नहा ले"'स्कूल को देर हो जाएगी'"

नीचे उतरकर मोहन नहाने-धोने में लग गया था। उसका मुंह फूला आ था। मां ने कुछ-कुछ बात सुन ली थी, पर बाप-बेटे के बीच खाम-खाह आना उसे पसंद नहीं था। न ही वह किसीकी तरफदारी करती थी। ति का स्वभाव वह जानती थी।

उस दिन मोहन स्कूल के लिए जितनी जल्दी तैयार हुआ था, उतनी ल्दी तैयार हो सकने की वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। सका मन कह रहा था, वह पिता के नीचे उतरकर आने से पहले ही कूल चला जाए। लेकिन बहुत जल्दी तैयार होने के बावजूद वह मां की ी हुई दही-रोटी खा रहा था, जब पिता आ गए थे। यह तो अच्छा हुआ क एक बार घूरकर देखने के अलावा पिता ने कुछ नहीं कहा। वह क नजर ही मोहन के गले में रोटी को अटका देने के लिए काफी थी। रता दातुन करने लगे और खों-खों करके गला साफ करने लगे, पर ोहन से और नहीं खाया गया।

मां ने स्कूल के लिए नमकीन पराठा चौथड़े में बांधकर दिया। ोहन ने उसे जल्दी से बस्ते मे रखा और स्कूल के लिए चल पड़ा।

आंगन में नल के पास बैठे बाऊजी नहाने लगे थे। और साथ ही पना नियमित कृष्ण-स्तोत्र गायन भी करने लगे थे। मोहन ने उनकी ोर देखे बिना ही द्वार की ओर कदम बढ़ा दिए कि पीछे से आवाज ाई थी, "हरामजादे, अब दुबारा गलती नहीं होनी चाहिए। तुमने सच ोल दिया, इसलिए बच गये, वरना दो कानों के बीच सिर कर देता'"

और द्वार के बाहर होते हुए मोहन ने बाऊजी का तकिया कलाम ुना था, "सच्चे इनसान के लिए दुनिया मे'''नो प्रॉब्लम'''"

'''अब बिस्तर पर लेटे-लेटे उसे ऐसा लग रहा था जैसे बाऊजी ने एक ार फिर उसका कान उमेठ दिया हो और उसका पूरा सिर दर्द में

साथ ही खांसी का दौरा शुरू हो गया···

तभी ग्रांगन से वाऊजी की ग्रावाज ग्राई थी, "मोहन की मां! मोहन कहां है? ग्राज इत्ती जल्दी कैसे उठ गया!"

"जोर पड़ा होगा···रात को कहता था, दुखता है···" मां की ग्रावाज पर सुनाई दी थी। ग्रौर उसके साथ ही सीढ़ियों पर पिता के कदमों की धमक ग्राने लगी थी। मोहन की रूह कांप गई थी।

उसने जल्दी से सिगरेट को मोरी में फेंक दिया ग्रौर उसपर पानी डाल दिया, लेकिन दरवाजे की दरार में से वाहर निकलती धुएं की लकीर पर पिता की नजर पड़ गई थी।

पिता मुलायम मन लिए ऊपर ग्राए थे, पर धुएं की लकीर देखते ही उनका माथा ठनक गया। कड़ककर उन्होंने ग्रावाज दी, "मोहन!"

मोहन की जान सूख गई। जल्दी-जल्दी पानी गिराकर उठा, तो हाथ कांप उठे। घबराहट में निक्कर के बटन ऊपर-नीचे लग गए।

"वाहर निकल, हरामजादे!" पिता की दूसरी ग्रावाज ग्राई। मोहन ने दरवाजा खोला, तो पिता ने सीधे उसका कान पकड़ लिया। "क्या कर रहा था ग्रंदर? सच वता दे, वरना कान सिर से ग्रलग हो जाएगा!"

"कुछ नहीं, वाऊजी···"

पिता ने कान को ग्रौर जोर से उमेठ दिया था। मोहन की ग्रांखों में ग्रांसू ग्रा गए थे।

"सूग्रर की ग्रौलाद! झूठ वोलता है! कुछ नहीं कर रहा था, तो धुग्रां तेरी मां के पेट से निकल रहा था! सच वता दे, सिगरेट पीना कहां से सीखा?···"

"सीखा नहीं वाऊजी···पहली वार···"

"सच कहता है?"

"हां, वाऊजी···देवी की सौंह···" मोहन रोने को हो ग्राया था···

पिता ने कान छोड़ दिया था। वोले थे, "जरूर तेरी सोहवत हकीम के पूत से है···वही ये करतूतें करता फिरता है···"

मोहन को लगा, वात वढ़ेगी। यों ही वोल गया; "नहीं वाऊजी···"

"फिर झूठ! चल भाग जा नीचे, वरना आज सुबह-सुबह तेरी खाल छिल जाएगी। हकीम के बेटे से मैं अपने-आप निपट लूंगा···" और पिता पाखाने वाले डिब्बे में पानी उंडेलने लगे थे। फिर भीतर घुसते हुए बोले, "जाकर नहा ले···स्कूल को देर हो जाएगी···"

नीचे उतरकर मोहन नहाने-धोने में लग गया था। उसका मुंह फूला हुआ था। मां ने कुछ-कुछ बात सुन ली थी, पर बाप-बेटे के बीच खाम-खाह आना उसे पसंद नहीं था। न ही वह किसीकी तरफदारी करती थी। पति का स्वभाव वह जानती थी।

उस दिन मोहन स्कूल के लिए जितनी जल्दी तैयार हुआ था, उतनी जल्दी तैयार हो सकने की वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उसका मन कह रहा था, वह पिता के नीचे उतरकर आने से पहले ही स्कूल चला जाए। लेकिन बहुत जल्दी तैयार होने के बावजूद वह मां की दी हुई दही-रोटी खा रहा था, जब पिता आ गए थे। यह तो अच्छा हुआ कि एक बार घूरकर देखने के अलावा पिता ने कुछ नहीं कहा। वह एक नजर ही मोहन के गले में रोटी को अटका देने के लिए काफी थी। पिता दातुन करने लगे और गों-खों करके गला साफ करने लगे, पर मोहन से और नहीं खाया गया।

मां ने स्कूल के लिए नमकीन पराठा चौपड़े में बांधकर दिया। मोहन ने उसे जल्दी से बस्ते में रखा और स्कूल के लिए चल पड़ा।

आंगन में नल के पास बैठे बाऊजी नहाने लगे थे। और साथ ही अपना नियमित कृष्ण-स्तोत्र गायन भी करने लगे थे। मोहन ने उनकी ओर देखे बिना ही द्वार की ओर कदम बढ़ा दिए कि पीछे से आवाज आई थी, "हरामजादे, अब दुबारा गलती नहीं होनी चाहिए। तुमने सच बोल दिया, इसलिए बच गये, वरना दो कानों के बीच सिर कर देता···"

और द्वार के बाहर होते हुए मोहन ने बाऊजी का तकिया कलाम सुना था, "सच्चे इनसान के लिए दुनिया में···नो प्रॉब्लम···"

···अब बिस्तर पर लेटे-लेटे उसे ऐसा लग रहा था जैसे बाऊजी ने एक बार फिर उसका कान उमेठ दिया हो और उसका पूरा सिर दर्द में

ही खांसी का दौरा शुरू हो गया…

तभी आंगन से बाऊजी की आवाज आई थी, "मोहन की मां ! मोहन हां है ? आज इत्ती जल्दी कैसे उठ गया !"

"जोर पड़ा होगा…रात को कहता था, दुखता है…" मां की आवाज र सुनाई दी थी। और उसके साथ ही सीढ़ियों पर पिता के कदमों की मक आने लगी थी। मोहन की रूह कांप गई थी।

उसने जल्दी से सिगरेट को मोरी में फेंक दिया और उसपर पानी डाल दिया, लेकिन दरवाजे की दरार में से बाहर निकलती धुएं की लकीर पर पिता की नजर पड़ गई थी।

पिता मुलायम मन लिए ऊपर आए थे, पर धुएं की लकीर देखते ही उनका माथा ठनक गया। कड़ककर उन्होंने आवाज दी, "मोहन !"

मोहन की जान सूख गई। जल्दी-जल्दी पानी गिराकर उठा, तो हाथ कांप उठे। घबराहट में निक्कर के बटन ऊपर-नीचे लग गए।

"बाहर निकल, हरामजादे !" पिता की दूसरी आवाज आई। मोहन ने दरवाजा खोला, तो पिता ने सीधे उसका कान पकड़ लिया। "क्या कर रहा था अंदर ? सच बता दे, वरना कान सिर से अलग हो जाएगा !"

"कुछ नहीं, बाऊजी…"

पिता ने कान को और जोर से उमेठ दिया था। मोहन की आंखों में आंसू आ गए थे।

"सूअर की औलाद ! झूठ बोलता है ! कुछ नहीं कर रहा था, तो धुआं तेरी मां के पेट से निकल रहा था ! सच बता दे, सिगरेट पीना कहां से सीखा ?…"

"सीखा नहीं बाऊजी…पहली बार…"

"सच कहता है ?"

"हां, बाऊजी…देवी की सौंह…" मोहन रोने को हो आया था…

पिता ने कान छोड़ दिया था। बोले थे, "जरूर तेरी सोहबत हकीम के पूत से है…वही ये करतूतें करता फिरता है…"

मोहन को लगा, बात बढ़ेगी। यों ही बोल गया; "नहीं बाऊजी…

"फिर झूठ ! चल भाग जा नीचे, वरना आज सुबह-सुबह तेरी खाल छिल जाएगी। हकीम के बेटे से मैं अपने-आप निपट लूंगा"'और पिता पाखाने वाले डिब्बे में पानी उंडेलने लगे थे। फिर भीतर घुसते हुए बोले, 'जाकर नहा ले'''स्कूल को देर हो जाएगी'''"

नीचे उतरकर मोहन नहाने-धोने में लग गया था। उसका मुंह फूला हुआ था। मां ने कुछ-कुछ बात सुन ली थी, पर बाप-बेटे के बीच खाम-खाह आना उसे पसंद नहीं था। न ही वह किसीकी तरफदारी करती थी। पति का स्वभाव वह जानती थी।

उस दिन मोहन स्कूल के लिए जितनी जल्दी तैयार हुआ था, उतनी जल्दी तैयार हो सकने की वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उसका मन कह रहा था, वह पिता के नीचे उतरकर आने से पहले ही स्कूल चला जाए। लेकिन बहुत जल्दी तैयार होने के बावजूद वह मां की दी हुई दही-रोटी खा रहा था, जब पिता आ गए थे। यह तो अच्छा हुआ कि एक बार घूरकर देखने के अलावा पिता ने कुछ नहीं कहा। वह एक नजर ही मोहन के गले में रोटी को अटका देने के लिए काफी थी। पिता दातुन करने लगे और खों-खों करके गला साफ करने लगे, पर मोहन से और नहीं खाया गया।

मां ने स्कूल के लिए नमकीन पराठा चीथड़े में बांधकर दिया। मोहन ने उसे जल्दी से बस्ते में रखा और स्कूल के लिए चल पड़ा।

आंगन में नल के पास बैठे बाऊजी नहाने लगे थे। और साथ ही अपना नियमित कृष्ण-स्तोत्र गायन भी करने लगे थे। मोहन ने उनकी ओर देखे बिना ही द्वार की ओर कदम बढ़ा दिए कि पीछे से आवाज आई थी, "हरामजादे, अब दुबारा गलती नहीं होनी चाहिए। तुमने सच बोल दिया, इसलिए बच गये, वरना दो कानों के बीच सिर कर देता'''"

और द्वार के बाहर होते हुए मोहन ने बाऊजी का तकिया कलाम सुना था, "सच्चे इनसान के लिए दुनिया में'''नो प्रॉब्लम'''"

'''अब बिस्तर पर लेटे-लेटे उसे ऐसा लग रहा था जैसे बाऊजी ने एक बार फिर उसका कान उमेठ दिया हो और उसका पूरा सिर दर्द से

झनझना उठा।

फिर उसे पता ही नहीं चला, कब बाऊजी आकर उसके सामने खड़े हो गए।

बाऊजी का कद काफी लंबा था। मोहन लेटा हुआ था। बाऊजी खड़े थे, नक्श उनके तीखे थे और टेबल लैंप की सीमित रोशनी में उनके नक्श और भी गहरे तथा तीखे हो उठे थे। मोहन ने डायरी को बंद करके सिरहाने के पास रख दिया।

"क्यों बंद कर दी?" बाऊजी बोले, "फिक्र मत करो, तुम्हारी डायरी तब तक कोई नहीं पढ़ेगा, जब तक तुम नहीं चाहोगे। डायरी तुम्हें बहुत कुछ सिखा देगी। वह सब कुछ भी, जो मैंने तुम्हारे दादा से सीखा। मालूम है, मैं तुम्हारी उम्र का था, तो तुम्हारे दादा सारे घर का भार मुझपर छोड़कर चले गये थे। लेकिन उद्यमी आदमी जिंदगी से कभी नहीं घबराता। हाथ-पैर चलते हों, दिमाग काम करता हो, तो···नो प्रॉब्लम···"

मोहन को बाऊजी का उस वक्त आना अखर गया था, लेकिन बाऊजी ज्यादा देर रुके नहीं। वह उसके कमरे को यों ही देखते रहे। मेज पर बिखरी किताबों-कापियों पर भी उन्होंने उचटती-सी नजर डाली और फिर यह कहकर नीचे उतर गए कि "मां से कहा करो, कमरे की सफाई कर दिया करे···या फिर खुद ही सफाई कर लिया करो···"

···बाऊजी चले गए, तो मोहन ने डायरी को फिर उठा लिया। उसका जी चाहा कि वह एक बार फिर लिखने बैठ जाए, लेकिन फिर उसे लगा, मन में उत्साह होने के बावजूद शरीर की थकान उसे उठने नहीं देगी। उसने डायरी को सिरहाने के पास ही रख दिया।

मक्खन सिंह का दिया हुआ अलगोजा अभी तक साइकल की टोकरी में ही पड़ा था। मोहन की आंखों में नींद समा रही थी···नींद की गोद में चले जाने से पहले उसने सोचा, कल वह अलगोजा बजाने की कोशिश जरूर करेगा।

2

रात काफी हो चुकी थी, लेकिन बरसों के बाद पहली बार ऐसा हुआ था कि दुर्गादास जी को नींद नहीं आ रही थी। गरमियों के आसमान में तारे टिमटिमा रहे थे। हलकी-हलकी हवा चल रही थी, जिसमें तपिश भी थी, जमीन में उठती हुई भाप की गरमाहट भी।

पास की खाट पर तारा कब की सो चुकी थी। नींद में ही उसका एक हाथ दुर्गादास जी के तकिये पर आकर टिक गया था। दुर्गादास जी काफी देर तक उस हाथ को देखते रहे। तारों की मद्धिम रोशनी में उस हाथ पर पड़ी हुई वक्त की लकीरें धुंधली होकर भी काफी स्पष्ट थीं। कभी यह हाथ कितना मुलायम हुआ करता था···दुर्गादास जी ने यों ही एक बार उस हाथ को छू लिया था, फिर अपना हाथ पीछे खींचकर आसमान की ओर देखने लगे थे।

उनका बेटा अच्छे नंबरों से पास हो गया था। तारा को इसी बात का संतोष था और यह संतोष उसे गहरी नींद दे गया था। लेकिन इसी संतोष के कारण दुर्गादास जी उत्तेजित महसूस कर रहे थे और उन्हें नींद नहीं आ रही थी।

नींद न आने की एक वजह यह भी थी कि दुर्गादास जी पुरानी यादों में घिर गए थे। उनका अतीत उनके सामने आकर खड़ा हो गया था और वह इस हिसाब-किताब में लग गए थे कि पचास साल की जिंदगी में उन्हें हासिल क्या हुआ है! क्या कुछ है, जो छूटता चला गया है···

दुर्गादास जी के पुरखे कभी रियासत के दरबार में दीवान हुआ करते थे। फिर जाने किस पीढ़ी के किसी नौजवान ने राजा की शान में गुस्ताखी की थी और दीवान का पद उनसे छिन गया था। पर दुर्गादास के दादा तक के जमाने में घर में दौलत थी—रुपयों की खनखनाहट तवायफों के घुंघरुओं की झनझनाहट को बराबर और मात करती थी।

दुर्गादास के पिता किसी स्कूल या कॉलेज में पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्हें एक ही काम सिखाया गया था—घोड़े पर सवार होकर दिन-भर इधर-उधर भटकते रहना और बंदूक से शिकार करते रहना। दुर्गादास के दादा मरे थे, तो एक मकान और थोड़ी-सी जमीन अपने बेटे, जमनादास के नाम छोड़ गये थे। उन दिनों दुर्गादास मिडिल स्कूल में पढ़ते थे।

फिर एक हादसा हुआ था। एक दिन जमनादास शिकार करने निकले थे...दिन-भर जंगलों में भटकते रहे थे। पर एक-आध परिंदे के अलावा कोई जानवर हाथ नहीं लगा था। शाम को झुटपुटा हो रहा था। वह हताश-से लौट रहे थे कि तभी उन्हें एक झाड़ी के पास सफेद खरगोश-सा नजर आ गया था। घोड़े की लगाम खींचकर उन्होंने बंदूक दाग दी थी। धांय की जंगल-गुंजाती आवाज के साथ ही एक क्षणिक चीख भी उठी थी और यकवयक शांत हो गयी थी। जमनादास परेशान हो गए थे... उन्हें समझ नहीं आया था कि वह चीख कैसी थी। कोई खरगोश तो आज तक कभी नहीं चीखा था...

शिकार को उठाने के लिए उन्होंने घोड़ा आगे बढ़ाया था कि तभी किसी औरत की चीखें उसके कानों में पड़ गयी थीं।...उस झुटपुटे में जाने किधर से एक औरत अपने बाल नोचती और विलाप करती हुई सामने आ खड़ी हुई थी—और उसके हाथों में उसके एक-वर्षीय बच्चे की खून से लथपथ लाश थी...

जमनादास की समझ में कुछ नहीं आया था...उस भयावह दृश्य को देखकर वह अपने घोड़े को भगाते हुए वहां से ले आए थे।

घर पहुंचकर शिकार में मारे दो तीतरों और एक जंगली कबूतर को उन्होंने एक कोने में पटक दिया था। फिर निढाल-से होकर खाट पर पड़ गए थे...

पत्नी ने खाने के बारे में पूछा था, तो उन्होंने कह दिया था, उन्हें भूख नहीं है, वह दुर्गा को खिला दे, खुद खा ले और सो जाए...

रात-भर वह खाट पर पड़े-पड़े जाने क्या सोचते रहे थे। यहां तक कि रात के तीसरे पहर घर में बिल्ली घुस आयी थी और वह कबूतर और तीतर उठाकर ले गयी थी...और जमनादास खामोशी से सब कुछ

देखते रहे थे…

प्रभात होने पर वह उठे थे। उन्होंने अपनी बंदूक उठायी थी और घर के पिछवाड़े के कुएं में उसे फेंक आए थे…पर तभी सब ओर शोर मच गया था। जंगल में रहने वाली वह औरत अपने कबीले वालों के साथ मोहल्ले में चली आई थी। वह रो-चिल्ला रही थी और बच्चे की खून से लथपथ लाश अब भी उसके सीने से चिपकी हुई थी।

जमनादास को लगा था, वे खूंखार लोग उन्हें मार डालेंगे—अपनी कुल्हाड़ियों से उनके, उनकी पत्नी के और दुर्गा के टुकड़े-टुकड़े कर देंगे…

लेकिन, बड़े धीरज से उन्होंने स्थिति को संभाल लिया था। खुद ही जाकर उन लोगों के सामने खड़े हो गए थे और बोले थे, "गलती मुझसे हुई है। उसका खामियाजा भुगतने को मैं तैयार हूं।"

खामियाजा क्या हो सकता था? क्या एक आदमी की जान लेने से दूसरी जान वापस लौट सकती थी?…

तय यह पाया गया था कि जमनादास बच्चे की जान की कीमत जमीन के रूप में चुकायें, जमनादास ने अपनी सारी जमीन उस बच्चे के मां-बाप के नाम लिख दी थी…

दूसरी रात ही जमनादास घर से गायब हो गए थे…उनका कहीं कुछ पता नहीं चला था। बरसों बाद किसीने खबर दी थी कि जमनादास जोगी हो गए हैं और अमरनाथ के रास्ते में पड़ने वाली एक गुफा में धूनी रमाए रहते हैं।

दुर्गादास को अपने पिता की याद आती तो थी, पर सताती नहीं थी। मां भी उनका जिक्र कभी नहीं करती थी। लोग उन्हें जरूर याद दिलाते थे, पर दुर्गादास को इतनी फुरसत कभी नहीं मिली कि वह अमरनाथ की यात्रा पर जाएं और पिता से मिल आएं या उन्हें घर ले आएं।

दुर्गादास की पढ़ाई बीच में ही छूट गई थी। मां से कुछ पैसा लेकर उन्होंने कपड़े की फेरी लगाना शुरू कर दिया था। चद्दरों और खेसों की गठरी कंधे पर उठाए वह गांव-गांव चक्कर लगाते थे और दस-बारह दिनों में एक बार घर लौटते थे। रात वहीं भी, किसी जमींदार के यहां, किसी

दुर्गादास के पिता किसी स्कूल या कॉलिज में पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्हें एक ही काम सिखाया गया था—घोड़े पर सवार होकर दिन-भर इधर-उधर भटकते रहना और बंदूक से शिकार करते रहना। दुर्गादास के दादा मरे थे, तो एक मकान और थोड़ी-सी जमीन अपने बेटे, जमनादास के नाम छोड़ गये थे। उन दिनों दुर्गादास मिडिल स्कूल में पढ़ते थे।

फिर एक हादसा हुआ था। एक दिन जमनादास शिकार करने निकले थे···दिन-भर जंगलों में भटकते रहे थे। पर एक-आध परिंदे के अलावा कोई जानवर हाथ नहीं लगा था। शाम को झुटपुटा हो रहा था। वह हताश-से लौट रहे थे कि तभी उन्हें एक झाड़ी के पास सफेद खरगोश-सा नजर आ गया था। घोड़े की लगाम खींचकर उन्होंने बंदूक दाग दी थी। धांय की जंगल-गुंजाती आवाज के साथ ही एक क्षणिक चीख भी उठी थी और यकबयक शांत हो गयी थी। जमनादास परेशान हो गए थे··· उन्हें समझ नहीं आया था कि वह चीख कैसी थी। कोई खरगोश तो आज तक कभी नहीं चीखा था···

शिकार को उठाने के लिए उन्होंने घोड़ा आगे बढ़ाया था कि तभी किसी औरत की चीखें उसके कानों में पड़ गयी थीं।···उस झुटपुटे में जाने किधर से एक औरत अपने बाल नोचती और विलाप करती हुई सामने आ खड़ी हुई थी—और उसके हाथों में उसके एक-वर्षीय बच्चे की खून से लथपथ लाश थी···

जमनादास की समझ में कुछ नहीं आया था···उस भयावह दृश्य को देखकर वह अपने घोड़े को भगाते हुए वहां से ले आए थे।

घर पहुंचकर शिकार में मारे दो तीतरों और एक जंगली कबूतर को उन्होंने एक कोने में पटक दिया था। फिर निढाल-से होकर खाट पर पड़ गए थे···

पत्नी ने खाने के बारे में पूछा था, तो उन्होंने कह दिया था, उन्हें भूख नहीं है, वह दुर्गा को खिला दे, खुद खा ले और सो जाए···

रात-भर वह खाट पर पड़े-पड़े जाने क्या सोचते रहे थे। यहां तक कि रात के तीसरे पहर घर में बिल्ली घुस आयी थी और वह कबूतर और तीतर उठाकर ले गयी थी···और जमनादास खामोशी से सब कुछ

देखते रहे थे···

प्रभात होने पर वह उठे थे। उन्होंने अपनी बंदूक उठायी थी और घर के पिछवाड़े के कुए में उसे फेंक आए थे···पर तभी सब ओर शोर मच गया था। जंगल में रहने वाली वह औरत अपने कबीले वालों के साथ मोहल्ले में चली आई थी। वह रो-चिल्ला रही थी और बच्चे की खून से लथपथ लाश अब भी उसके सीने से चिपकी हुई थी।

जमनादास को लगा था, वे खूंखार लोग उन्हें मार डालेंगे—अपनी कुल्हाड़ियों से उनके, उनकी पत्नी के और दुर्गा के टुकड़े-टुकड़े कर देंगे···

लेकिन, बड़े धीरज से उन्होंने स्थिति को संभाल लिया था। खुद ही जाकर उन लोगों के सामने खड़े हो गए थे और बोले थे, "गलती मुझसे हुई है। उसका खामियाजा भुगतने को मैं तैयार हूं।"

खामियाजा क्या हो सकता था? क्या एक आदमी की जान लेने से दूसरी जान वापस लौट सकती थी?···

तय यह पाया गया था कि जमनादास बच्चे की जान की कीमत जमीन के रूप में चुकायें, जमनादास ने अपनी सारी जमीन उस बच्चे के मा-बाप के नाम लिख दी थी···

दूसरी रात ही जमनादास घर से गायब हो गए थे···उनका कहीं कुछ पता नहीं चला था। बरसों बाद किसीने खबर दी थी कि जमनादास जोगी हो गए हैं और अमरनाथ के रास्ते में पड़ने वाली एक गुफा में धूनी रमाए रहते हैं।

दुर्गादास को अपने पिता की याद आती तो थी, पर सताती नहीं थी। मा भी उनका जिक्र कभी नहीं करती थी। लोग उन्हें जरूर याद दिलाते थे, पर दुर्गादास को इतनी फुरसत कभी नहीं मिली कि वह अमरनाथ की यात्रा पर जाएं और पिता से मिल आएं या उन्हें घर ले आएं।

दुर्गादास की पढाई बीच में ही छूट गई थी। मां से कुछ पैसा लेकर उन्होंने कपड़े की फेरी लगाना शुरू कर दिया था। चद्दरों और खेसों की गठरी कंधे पर उठाए वह गांव-गांव चक्कर लगाते थे और दस-बारह दिनों में एक बार घर लौटते थे। रात कहीं भी, किसी जमींदार के यहां, किसी

धर्मशाला में, या किसी वट वृक्ष के नीचे गुजर जाती थी। दिन भटकते हुए, कपड़ा बेचते हुए निकल जाता था। करीब चार बरस ऐसे ही बीत गए थे।

फिर एक गांव के दूकानदार को बीस वर्षीय जवान दुर्गादास की मेहनतकशी पर प्यार आ गया था। दुर्गादास उसे भा गए थे। वह उन्हें घर ले गया। खाना खिलाया, बिस्तर दिया···और तारों की छांव में कच्चे दूध की लस्सी पिलाते-पिलाते उसने दुर्गादास के सामने एक प्रस्ताव रख दिया था कि वह भी अपना घर बसा ले···कच्ची लस्सी का लोटा हाथ में लेकर आयी तारावंती लजाकर घर के भीतर चली गयी थी।

दुर्गादास ने तारा का चेहरा नहीं देखा था—सिर्फ खाना खाते हुए उसकी ओढ़नी की एक झलक पायी थी या एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते उसके कदमों को देखा था।

उस रात तारों की छांव में, उन्हें लगता रहा था कि जैसे वे पांव तारों पर चलते जा रहे हैं···एक तारे से उछलकर दूसरे पर जा खड़े होते हैं और थमकर इंतजार करने लगते हैं कि पीछे कोई आ रहा है या नहीं···

सुबह उठकर अपनी गठरी उठाते समय दुर्गादास ने कहा था, कि वह अपनी मां से बात करेंगे।

घर लौटकर आए थे, तो दुर्गादास ने मां को मरणासन्न पाया था। मां को भयंकर ज्वर था और वह करीब-करीब बेहोश थी। आस-पड़ोस के लोग ही उसकी तीमारदारी करते रहे थे और उन्होंने बताया था कि मां उसी दिन से बीमार थी, जिस दिन से वह फेरी पर गए थे। जाने कौन-सी ऐसी शक्ति थी, जो मां को अभी तक जिंदा रखे हुए थी···

उसी रात लालटेन की रोशनी में मां ने आंखें खोली थीं—दुर्गादास को अपने सामने पाकर उनमें एक चमक आयी थी, ओठ कुछ कहने को खुले थे और उसके साथ ही एकाएक सब कुछ स्थिर हो गया था।

दुर्गादास नितांत अकेले रह गए थे···

एक साल और बीत गया था। दुर्गादास लौटकर उस गांव की ओर गए ही नहीं थे, जहां तारा रहती थी। अकेले हो जाने के कारण सब कुछ जैसे नीरस हो उठा था। सोचते थे, अब फेरी लगाने में फायदा ही क्या? किसके लिए भटके यह गांव-गांव?…

मन में यह भी आया था कि इतने दिनों तक कोई इंतजार भी कैसे करेगा? तारा के हाथ पीले हो चुके होंगे…वह किसी और के मन के तारों में बजने लगी होगी।

उस साल के कुछ महीने तो ऐसे ही बीत गए थे। फिर ऊब होने लगी थी। काम के बगैर कोई जो भी कैसे सकता है?—दुर्गादास के दूर के मामा ने आकर समझाया था।

मामा के अपने ट्रक चलते थे। दुर्गा को उन्होंने समझाया था कि अगर उनका मन पुराने काम में नहीं लगता, तो वह उनके साथ चले चलें, ट्रकों के अड्डे पर जो काम चाहें, संभाल लें…और दुर्गादास उनके साथ चल दिए थे।

ट्रकों और ट्रक-ड्राइवरों की दुनिया में उनका मन रम गया था। उस दुनिया में एक अजीब-सी मस्ती थी, खुलापन था, अपनापन था। दुर्गादास को ट्रकों की लदाई का काम सौंपा गया था और वह बड़ी लगन से अपना काम देखने लगे थे। दिन-भर काम करते और रात को थककर घर लौट आते…पर घर आते ही अकेलापन उन्हें काटने को दौड़ता। कभी-कभी तारा के पैरों की झमक उनकी आंखों के सामने कौंध जाती और वह बेचैन हो उठते। फिर ख्याल आता: तारा तो कहीं और चली गयी होगी।

फिर मन ने जोर मारा था। एक दिन दुर्गादास तारा के गांव की ओर चल दिए थे।

तारा के पिता ने बड़े प्यार से उनका स्वागत किया था। शिकायत कुछ नहीं की थी, बस इतना ही कहा था, "बड़ी देर की आने में!"

"मां गुजर गयी थी, इसीलिए नहीं आ सका," दुर्गादास ने कहा था।

"पुराना काम छोड़ दिया? हमारी चद्दरें तो अभी तक चल रही हैं। बीच में एक शादी में जरूरत पड़ी थी, तो तुम्हारी बहुत याद

आई। तुम आये होते, तो दस-बीस जोड़ी खरीद लेते···पर तुम आये ही नहीं !"

शादी के नाम पर दुर्गादास का मन बुझ गया था। एक क्षण वह खामोश रह गये थे, फिर बोले थे, "मैंने वह काम छोड़ दिया है···अब तो ट्रकों पर माल लदवाता हूं···"

"अच्छा !···" एक पल की खामोशी। फिर उत्साह। "घर चलोगे न ? तुम्हारी मासी बहुत याद करती थी तुम्हें !"

दुर्गादास ने सिर हिला दिया था।

घर पहुंचने पर दुर्गादास की हिम्मत नहीं हो रही थी कि वह आंखें उठाकर इधर-उधर झांक भी लें।···बेहद परेशानी की हालत में थे वह। मन में बार-बार यह बात आ रही थी कि पूछ क्यों नहीं लेते कि तारा कहां है—पर जबान नहीं खुल रही थी।

शाम गहरा रही थी, जब वे लोग घर पहुंचे थे। मासी आई थी और उसने आंगन में खाटें बिछा दी थीं। दुर्गादास और घर का मालिक आमने-सामने बैठ गये थे।

दूकानदार हरिचंद दुर्गादास से उनके काम-धंधे के बारे में सवाल करने लगा था और दुर्गादास बड़े अनमने ढंग से उसके सवालों के जवाब देते जा रहे थे। पिछले एक साल में जो कुछ घटित हुआ था, उसे वह टुकड़े-टुकड़े जुम्लों में बता गये थे···इस बीच मासी कच्ची लस्सी से भरा लोटा और गिलास दे गई थी और पूछ गई थी कि रोटी अभी खायेंगे या थोड़ी देर में ?

"बोलो बरखुरदार !" हरिचंद ने अपनी बीवी का सवाल दुर्गादा की ओर बढ़ा दिया था।

"अभी तो भूख नहीं है···वैसे···"

"तो ठीक है। थोड़ी देर बाद सही ! यहां कौन जल्दी है ! कौन-सी पसंद करते हो ?···"

"कोई खास पसंद नहीं है मेरी।···जो भी मिलता है, खा हूं···"

"पर तुम हमारे मेहमान हो भाई ! कुछ न कुछ तो तुम्हारी

ना बनना ही चाहिए···बोलो···साबुत उड़द मगाओगे ?···" हरिचंद ने कहा था।

"मालूमा···"

दुर्गादास का मन ही नहीं था खाने में···ज्यों-ज्यों रात घिरती आ रही थी, उनका मन उलझता जा रहा था। बेचैनी इतनी ज्यादा हो रही थी कि उन्हें लगता था, खाना वह खा ही नहीं पायेंगे। पर हरिचंद ने अपनी पत्नी से कह दिया था, "जा भलीलोक! साबुत उड़द बना ले··· और पकौड़ियों का रायता···सिवैंयों की खीर भी बना सको, तो मजा आ जाये···"

"तुम थोड़ा-सा गुस्ल लो बरखुरदार, मैं जरा फारिग हो आऊं···" कहकर हरिचंद उठा था और सीढ़ियों की ओर चल दिया था···

दुर्गादास हरिचंद को सीढ़ियां चढ़ते देखते रहे थे और उनकी निगाहें तब तक उसका पीछा करती रही थी, जब तक कि हरिचंद छत की मुंडेर के पीछे गायब नहीं हो गया था···फिर किसी बरतन में से किसी दूसरे, छोटे बरतन—लोटे या डिब्बे में पानी उंडेलने की आवाज आई थी··· दरवाजे की कुंडी खड़कने की आवाज आई थी और फिर दरवाजा बंद होने की···दुर्गादास की निगाह उधर से हट गई थी···

दुर्गादास खाट पर लेट गये थे। सिर तकिये पर टिका हुआ था।··· आसमान में इक्का-दुक्का तारे छिटक आये थे और दुर्गादास के शरीर में तारा की याद में झनझनाहट-सी होने लगी थी···

तारा को भुलाने के इरादे से उन्होंने आसमान से आंखें हटा ली थीं। करवट लेकर लेट गये थे और सामने के बरामदे की ओर खाली-खाली निगाहों से तकने लगे थे।···

···कि तभी वे पांव···वह ओढ़नी—दिखाई दी थी···दुर्गादास एकाएक कांप उठे थे···उनकी धड़कन बढ़ गई थी···सिर एकाएक खून के दबाव से चकराने-सा लगा था और वह हड़बड़ाकर उठकर बैठ गये थे।

तारा···वे पांव···वह ओढ़नी···वह तारों पर चलते कदम···उन्हीं की ओर चले आ रहे थे···

दुर्गादास की हालत ऐसी थी जैसे वह नींद में अचानक उठकर बैठ गये

हों···कि जो कुछ सामने था, वह मुजस्सिम यथार्थ नहीं, सूक्ष्म स्वप्न हो···पर इसमें कोई शक नहीं था कि तारा उनके पास खड़ी थी···

उसके माथे पर ओढ़नी थी—आंचल घुटनों तक लहरा रहा था··· चेहरा उस अंधेरे में भी दमक रहा था।

एक क्षण के लिए दुर्गादास को लगा, वह घिर गये हैं···तो साल-भर तक इन लोगों ने कोई फैसला नहीं किया था···तो ये लोग मेरा इंतजार करते रहे थे···पर दूसरे ही क्षण खयाल आया—यह भी तो मुमकिन है तारा की शादी हो चुकी हो और वह कुछ दिनों के लिए मायके आई हुई हो···

पर तभी जैसे तारा ने सारे स्वप्नजाल, यातनादायी विचारचक्र को तोड़ दिया था। उसने अपनी बांहें आगे फैला दी थीं और सवाल उसके ओठों से फिसल आया था, "मेरी चूड़ियां लाये हो?"

दुर्गादास का पूरा अस्तित्व मोम की तरह पिघलने लगा था।

उन्हें कुछ सूझ ही नहीं पा रहा था। जवाब में बड़ी कातर-सी निगाह उन्होंने सामने खड़ी तारा की ओर डाली थी, पर उन आंखों की मासूमियत, उनकी अबोधता, उनकी निर्दोष चमक ने उन्हें अधीर कर दिया था। उन्होंने आंखें झुका ली थीं···फिर धरती की ओर ताकते हुए बोले थे, "मैंने सोचा ही नहीं था···तारा···पर अब जरूर ले आऊंगा···"

"फिर साल-भर बाद?"

सवाल ने दुर्गादास को फिर बींध दिया था···पर उनका उत्तर अब ज्यादा स्थिरता लिये था, "नहीं, इसी हफ्ते···"

तारा भीतर लौट गई थी···

दुर्गादास अनजानी अनुभूतियों के तूफान-झंझावात से घिरे वैसे ही बैठे रहे थे···

फिर सब कुछ बहुत जल्दी ही हो गया था। रात का खाना खाने के बाद बातें, बातों के बाद आंगन में लेटे-लेटे, नींद के इन्तजार में, तारों की गिनती···और उन तारों में साल-भर पहले बजने वाला संगीत···

"पिछले साल, बरखुरदार, तुम्हारे सामने मैंने एक सवाल रखा था···" हरिचंद ने कहा था, "उसका जवाब चाहो, तो अब भी दे सकते

हो…" उसके स्वर में झिझक बड़ी स्पष्ट थी।

"पिछले साल मैं बंधा हुआ था," दुर्गादास बोले थे। "अब हालत यह नहीं है। तब अपने बारे में, अपनी ज़िंदगी के बारे में कोई भी फैसला लेने के लिए मैं आज़ाद नहीं था। आज हूं…और मेरा फैसला यह है कि तारा मेरे घर मेरे साथ रहेगी…"

हरिचंद विभोर हो उठा था।

कुछ ही दिन बाद दुर्गादास तारा को ब्याह कर अपने घर ले आए थे। लेकिन खुशी—शादी की खुशी, तारा को पा लेने की खुशी—बहुत जल्दी दुखों में बदलने लगी थी। साल-भर बाद ही तारा ने एक बेटे को जन्म दिया था, जो सूतक काटने से पहले ही चल बसा था। साल-भर बाद एक लड़की हुई थी, जो पहली सांस लेने से पहले ही मर गयी थी…फिर एक-एक करके तीन बच्चे और हुए थे, वे भी साल-छह महीनों में ही भगवान् के पास लौट गए थे। मोहन जब पेट में आया था, तो तारा का मन खुशी की बजाय आशंकाओं से भर उठा था।

दुर्गादास खुद भी हर वक्त दुखी रहते थे। कारोबार खूब अच्छा चल निकला था, उनकी अपनी दो-तीन बसें दौड़ने लगी थीं, बस-अड्डे पर उन्होंने अपना छोटा-सा दफ्तर भी बना लिया था, शहर में मान था, लोग इज़्ज़त से बात करते थे, लेकिन भीतर मन में कहीं एक बहुत बड़ा खला था। शाम को घर लौटते, तो जी चाहता रास्ते से मिठाई की डलिया खरीदते चलें, फलों की टोकरी लेते चलें, लेकिन सूने आंगन का ध्यान आते ही उनका मन कचोटने लगता और वह एक सर्द आह खींच-कर रह जाते।

फिर एक रात उन्होंने तारा को अपने पिता की कहानी सुना दी थी। तारा तब तो यही बोली थी कि "पिछले जन्म में उन्होंने ज़रूर कोई पुण्य किया होगा, तभी तो जोगी बन गये।" लेकिन फिर उसके दिल में कोई आशंका घर करने लगी थी। कहीं बंदूक की गोली से मरा वह अबोध बालक ही तो प्रेत बनकर उनके बच्चों को नहीं खाये जा रहा है? कहीं उसकी मां की आह ही उनकी गोद को लगातार सूना नहीं बनाए रख रही है? तारा का बदन हिचकियों से कांपने लगा था। दुर्गादास जी ने

तब उसे सांत्वना दी थी। पर तारा का मन तब तक नहीं माना था, जब तक उसने कृष्ण कन्हैया के आगे मनोती नहीं की थी—हे मुरली वाले, अब के मेरी गोद सूनी मत करना··· बेटा हुआ, तो उसका नाम तुम्हारे नाम पर ही रख दूंगी, ताकि उसके बहाने दिन-रात तुम्हारा नाम मुंह पर आता रहे···

मोहन बच गया था, कृष्ण के नाम वाला मोहन···

दुर्गादास जी ने अपना सारा लाड़-प्यार मोहन पर उंडेल दिया था। तारा तो उसे हथेली के छाले की तरह संभालती थी।

मोहन बड़ा शर्मीला लड़का था। अंतर्मुख। अपने-आपमें लीन रहने वाला। चौदह-पन्द्रह साल की उम्र तक तो वह घर से निकलता ही नहीं था। बस, घर से स्कूल, स्कूल से घर। पिता के रौबीले चेहरे से उसे डर लगता। दुर्गादास इस मामले में रूढ़िवादी पिता थे। बच्चों पर पिता का रौब रहना चाहिए, ऐसा वह मानते थे। लेकिन बाद में यही चीज मोहन को उनसे दूर करती चली गयी थी···

दुर्गादास जी को लगता था, मोहन अगर ऐसे ही गुम-सुम बना रहा, तो दुनिया के भेड़िये किस्म के लोग उसे निगल जाने में दो मिनट नहीं लगाएंगे।

दुर्गादास जी ने करवट बदल ली।

3

"मोहन! ओ मोहन! चिड़िया जाग गई—तुम भी जागो!"

बाऊजी की आवाज कानों में पड़ी, तो मोहन की आंख खुल गयी। बाऊजी नल पर स्नान कर रहे थे और कृष्ण स्तोत्र के साथ-साथ मोहन को आवाजें भी देते जा रहे थे।

मोहन ने खिड़की से बाहर देखा—दिन अभी चढ़ा नहीं था। इक्का-दुक्का चिड़ियां जाग गयी थीं और आसमान में गोता लगा रही थीं।

मोहन को बहुत अच्छा लगा। वह मंत्रमुग्ध-सा उन्हें देखता रह गया।

बाऊजी का स्वर फिर उसके कानों में टकराया। वह तारा से शिकायत कर रहे थे: "बड़ा आलसी है यह लड़का! अरी भागवान, इसकी उम्र में तो हम सुबह उठकर चार मील की दौड़ लगा आया करते थे।"

"अभी उठ जाएगा···" मां अपने ही परिचित ढंग से उन्हें समझा रही थी।

अब मोहन उठ गया। उसे मालूम था, अब और देर की, तो बाऊजी ऊपर आकर ही उसे लताड़ने लगेंगे।

पाखाने के डिब्बे में पानी डालते हुए उसने नीचे झांककर देख लिया—ताकि मां उसे देख ले और बाऊजी को बता दे कि वह उठ गया है।

दुर्गादास जी ने जल्दी में कपड़े पहने और नाश्ते के लिए तैयार हो गए।

तारा ने आलू वाले पराठे और लस्सी उनके सामने रख दी। दुर्गादास जी ने पराठे खाए और लस्सी का गिलास एक ही सांस में खाली कर दिया।

तारा लस्सी का लोटा लिये खड़ी थी। बोली, "और लो।"

"बस, बाकी मोहन को पिला देना···अभी तक सो रहा है न!···"

"उठ गया है।"

"यह कोई वक्त है उठने का!" दुर्गादास जी को जैसे फिर चाबी लग गयी। "जवान आदमी है, लेकिन बुड्ढों की तरह सोता है।" फिर उन्होंने आवाज लगा दी—"मोहन!"

गनीमत थी कि मोहन तब तक फारिग हो चुका था और सीढ़ियां उतर रहा था।

"आया, बाऊजी!" वह वहीं से चिल्लाया और तेजी से सीढ़ियां उतरने लगा।

मोहन सीधा उनके सामने आकर खड़ा हो गया। बाऊजी बोले जा रहे थे—"अरे, कभी तो वक्त से उठ जाया करो! हजार बार कह चुका

हूं, देर तक सोने से शरीर में आलस बना रहता है…" फिर उन्हें जैसे ध्यान आ गया, जेब से पैसे निकालते हुए बोले, "तुझे इंटर में दाखिला लेना है न…ले…" फिर याद आया, मोहन सीधा पाखाने से चला आ रहा है। उनकी त्योरियां चढ़ गयीं, "हरामखोर! हाथ साफ किए?"

मोहन भागकर नल पर जा पहुंचा। उसने साबुन से हाथ धोए, कुल्ला किया और फिर बाऊजी के पास आ पहुंचा। बाऊजी ने सौ का नोट निकाल लिया था। उसे देते हुए बोले, "आज ही जाकर दाखिला ले लो। पैसे कम पड़ें, तो अड्डे से आकर ले जाना…"

"जी, बाऊजी…" मोहन ने सौ का नोट जेब में रख लिया।

दुर्गादास जी ने दहलीज के बाहर कदम रखा ही था कि मोहन मां की तरफ घूमा और बोला, "मां, मेरी चाय।"

मां ने एक नजर लस्सी के लोटे पर डाली, फिर मुसकराकर बोली, "अभी बनाती हूं…तू तब तक हाथ-मुंह धो ले।"

मोहन फिर नल की तरफ चला गया।

करीब आधे घंटे बाद नहा-धोकर मोहन घर से निकला। उसकी साइकल उसके साथ थी। दरवाजे से निकला, पैडल पर पांव रखने को ही था कि गली के दृश्य ने उसे रोक लिया।

साथ वाले मकान के बाहर दो-तीन ठेले खड़े थे, जिनपर सामान लदा हुआ था। कोई परिवार इस मकान में आ रहा था। मजदूर सामान उतार रहे थे। एक महिला दरवाजे के पास खड़ी थी, एक पुरुष ठेलों के पास खड़ा मजदूरों को निर्देश देता जा रहा था।

दो मजदूरों ने शीशे वाली अलमारी ठेले से उतारी। पुरुष ने कड़कती हुई आवाज में कहा, "ध्यान से! ध्यान से! गधों की तरह काम मत करो! शीशा टूट जाएगा।"

मोहन ने पुरुष की ओर देखा। वह उसे अपने बाऊजी जैसा ही लगा। बस, कद कुछ छोटा था और मूंछें कुछ ज्यादा घनी।

दरवाजे में खड़ी औरत का रंग जरा सांवला था, लेकिन उसकी आंखों में गहराई थी—एक अजीब-सी उदासी, जो शायद लगातार गुस्सा

महते रहने से पैदा हो जाती है।

"माँ !" एकाएक ऊपर से आवाज आई और मोहन को लगा जैसे किसी झंकार ने पूरे माहौल के तारों को झनझना दिया हो। उसकी नजर फौरन उधर घूम गई, जिधर से आवाज आई थी।

मकान की ऊपरी मंजिल पर एक खिड़की थी, जो खुली हुई थी—उसमें से एक भोला-सा चेहरा झांक रहा था। मोहन को अपनी ओर देखते देख, लड़की झिझककर कुछ इंच पीछे हट गई, हालांकि पीछे हटते-हटते भी उसने अपनी बात पूरी कर ही दी, "माँ, यह कमरा मैं लूँगी··· बड़ा ठंडा-ठंडा है।"

पुरुष और महिला के चेहरे एकाएक लाल हो उठे।

मोहन रुका नहीं। उसने पैडल पर पांव रखा, और आगे बढ़ गया, लेकिन महिला की बड़बड़ाहट उसके कानों से टकरा ही गयी—"मरजानी, कुछ नहीं सोचती···आते ही चिल्लाने लगी! ···"

पुरुष की घूरती हुई निगाहों ने लड़की को खिड़की बंद करने को मजबूर कर दिया···और मोहन को लगा, वे निगाहें उसकी पीठ को भी लगातार घूरती जा रही हैं।

गली के मुहाने पर, बीचोबीच दो लकड़ियां गड़ी हुई थीं। वहां तक पहुंचने से पहले मोहन ने एक बार पीछे घूमकर देख लिया···और लकड़ियों से टकराते-टकराते बचा।

लेकिन मन में कहीं उसे अच्छा-अच्छा लग रहा था।

कॉलेज तक पहुंचते-पहुंचते गली का वह दृश्य मोहन के दिमाग से गायब हो चुका था। रास्ते में कई सहपाठी उसे नजर आए थे, लेकिन उसका कोई दोस्त नहीं था। अकेले रहने की उसकी आदत बन चुकी थी और अकेले ही उसका मन भी लगता था। हम उम्र लोगों की बातों के विषयों में उसे कभी कोई रस नहीं आता था—न फिल्मों में, न फिल्मी लोगों में, न लड़कियों में। यही वजह थी कि वे लोग भी उससे ज्यादा बातचीत नहीं करते थे। किसीसे गाढ़ी दोस्ती होने का तो सवाल ही नहीं उठता था—बल्कि वे उसका मजाक ही उड़ाते थे।

मोहन ने दाखिले का फॉर्म भरा, और जाकर लाइन में खड़ा हो गया।

कॉलेज के दफ्तर के सामने गलियारे में जगह-जगह लड़के-लड़कियां खड़े थे।

एक झुंड में कोई ऊंची आवाज में रौब झाड़ रहा था—"भाई लोगो, हम तो सरकार के नक्शे-कदम पर चलते हैं! पूरा पांच-साला प्लान है बी० ए० पास करने का।"

"कुछ प्लान पांच साल में भी पूरे नहीं होते, सुंदर जी!" किसी लड़की ने अपना तर्क दिया।

"तो क्या हुआ! पांच साल और सही!" सुंदर नामक वह युवक कह रहा था। "हमारे बाप ने हमें नकेल तो डाल नहीं रखी है कि दुलकी चाल भी चलो और कोड़े भी खाओ!"

बात मोहन के लिए नहीं कही गयी थी, लेकिन मोहन को लगा, सुंदर का इशारा उसीकी ओर था। उसने कनखियों से झांककर देखा। सब लोग सुंदर की बात पर ठहाका लगाकर हंस रहे थे। चेक की कमीज और काली पैंट पहने सुंदर अपने लंबे-लंबे बालों में कंघी कर रहा था।

लोग ऐसे कैसे हंस लेते हैं? मोहन सोच रहा था।

लाइन धीरे-धीरे आगे सरक रही थी। लाइन में खड़े लड़के-लड़कियां तर खामोश थे। बस, झुंड बनाकर खड़े लड़के ही बतिया रहे थे।

"सुना है नया प्रिंसिपल आने वाला है…"

"क्या फर्क पड़ता है!"

"सुना है बड़ा सख्त आदमी है…"

"कोई बात नहीं…एक बाप और सही!"

हंसी।

क्या सारी दुनिया बापों से परेशान है? मोहन ने सोचा।

मोहन का नंबर आ गया। उसने फॉर्म दिया, फीस भरी, रसीद ली और फिर सीधा अपनी साइकल की तरफ चल दिया।

अभी दिन बहुत शेष था। मोहन को लगा अभी घर जाने में क्या होगा! पहले तो वह किले वाले पार्क में बैठकर अलगोजा बजाने की कोशिश करता रहा। बजा नहीं सका, तो उठकर चल दिया।

किले के साथ वाली सड़क के तीन-चार चक्कर लगाकर वह खेतों के बीच में होता हुआ देवी मंदिर की तरफ चला गया। शहर से काफी बाहर होने के कारण यह इलाका बड़ा शांत रहता था। मंदिर के साथ काफी लंबा-चौड़ा पक्का तालाब था, जिसके एक कोने में बरसात का पानी जमा रहता था। चारों तरफ कंगूरे बने हुए थे और चौड़ी-चौड़ी पक्की सीढ़ियां। मोहन मंदिर की दीवार के साथ बनी कच्ची सड़क पर उतर गया, जिसके एक ओर आक, पारड़ और क्वार गंदल उगी हुई थी। सरकंडों पर हलके बैंजनी फूल झूम रहे थे।

थोड़ी ही देर बाद वह बड़ी सड़क पर आ गया। वह और भी आगे निकल गया होता। लेकिन एक ढाबे पर उसे ट्रक ड्राइवरों की भीड़ नजर आ गई। मक्खन सिंह भी उनमें बैठा हुआ था।

ढाबे के बाहर खाटें बिछी हुई थीं, लकड़ी के कुछ बेंच भी थे। मक्खन अलगोजा बजा रहा था। साथ बैठे ड्राइवर और क्लीनर चाय पी रहे थे और संगीत का मजा उठा रहे थे।

मक्खन ने अलगोजा मुंह से अलग किया और फिर उसने ढाबे वाले को आवाज दी, "ओए बने! ला, चा दे!"

ढाबे वाले ने नौकर को आवाज दी, "ओए टुंडे! गिलास ला!"

मोहन मक्खन के सामने जाकर खड़ा हो गया। मक्खन खुश हो उठा। "आओ, बेटे! बैठो! चाय पियोगे?"

'नहीं, चाचा!" मोहन ने बेंच पर बैठते हुए कहा। "मैं तो तुम्हारी तान सुनकर रुक गया।" फिर अपना अलगोजा दिखाते हुए बोला, "मुझसे तो यह बजता ही नहीं…"

टुंडा नौकर चाय का गिलास और कप मक्खन को दे गया।

मक्खन ने गिलास और कप को बेंच पर रख लिया और बोला, "दिल में दर्द हो, तो अलगोजा अपने-आप बजने लगता है, पुत्तर!"

"दर्द मैं अब कहां से लाऊं, चाचा!" मोहन ने धीरे से कहा।

सिखा दो…'

मक्खन ने चाय कप में उंडेली और बोला, "अच्छा बैठ…चाय पी लें…फिर सिखा देता हूं…"

मोहन बैठा रहा। मक्खन चाय सुड़कता रहा।

आस-पास बैठे लोग अपने बीवी-बच्चों की बातें कर रहे थे। एक जवान ड्राइवर ने कोई लोकगीत छेड़ दिया था।

चाय पीने के बाद मक्खन ने अलगोजा उठा लिया—फिर उसे इस तरह बजाने लगा, जैसे नौसिखिये बजाते हैं। अंगुलियां कैसे रखी जायें, सांस कैसे फूंकी जाये, अलगोजे को ओठों में कैसे दबाया जाये, यह सब समझाता रहा। फिर मोहन से बोला, "ले, अब तू बजा…"

मोहन ने कोशिश की। उसे लगा, स्वर पहले से बेहतर निकल रहे हैं।

"शाबाश ! शाबाश !" मक्खन ने उसका हौसला बढ़ाते हुए कहा, "सांस और उंगलियों का खेल है सारा…मशक करते रहो—सीख जाओगे…'

थोड़ी देर बाद मोहन के ओठों पर मुसकराहट खेल रही थी।

वह उठा और उसने अपनी साइकल ठेल ली—देखते ही देखते वह हवा पर सवार हो गया।

4

नये पड़ोसियों के बारे में मोहन को शाम को पता चला।

दुर्गादास जी घर लौटे। तारा उनका हाथ-मुंह धुलवा रही थी और उसीने बात भी छेड़ दी थी।

"पता है, पड़ोस में नये लोग आ गये हैं।…" उसने बताया।

"कौन लोग हैं ?" दुर्गादास जी ने यों ही पूछा।

"कोई चंदरसेन हैं…सुना है, उनका मकान ढहा दिया गया है—

सड़क चौड़ी की जा रही है…"

"अच्छा-अच्छा…निचले मुहल्ले वाला होगा।" दुर्गादास जी ने तौलिये से हाथ पोंछते हुए कहा। "उसे मैं जानता हूं…" मोहन ने महसूस किया, पिता के स्वर में हलका-सा तिरस्कार का भाव आ गया था। "हमारे ही धंधे में है—पर रेपूटेशन अच्छी नहीं है।"

"क्यों ?" तारा ने पूछा।

"लेन-देन सुथरा नहीं है…ट्रक चलते हैं उनके…" फिर पूछा, "मकान खरीदा है या किराये पर लिया है ?"

"अभी तो किराये पर ही आये लगते हैं।"

"चलो…हमें क्या फ़र्क पड़ता है ?" वह मोहन के पास आ बैठे थे। "दाखिला ले लिया ?"

"जी।"

"अब डट के मेहनत करो और अव्वल आके दिखाओ इस बार, ताकि मैं भी सीना चौड़ा करके चल सकूं…"

"कोशिश करूंगा बाऊजी…" मोहन की आंखों के सामने लाला गिरधारी लाल बजाज की तस्वीर आ गई, जिनका बेटा हर साल फ़र्स्ट आता था और लाला जी अपने बेटे के बारे में जब भी बात करते थे, उनका सीना जंगली कबूतर की तरह फूल जाता था। मोहन का जी चाहा कि वह हंसे, लेकिन उसके होंठों पर बड़ी पतली-सी मुसकराहट आकर रह गई। उस मुसकराहट को भी उसने सिर घुमाकर छुपा लिया। अपने कमरे के एकान्त में मोहन खुलकर हंस-मुसकरा लेता था। लाला गिरधारी लाल को याद करके उसे हंसी आ गई। उससे ज़्यादा हंसी गोल-मटोल लाला जी के दुबले-पतले, चश्मीश बेटे को याद करके आ रही थी।

जी भर हंस लेने के बाद मोहन अपनी मेज़ पर आ बैठा। उसने बाऊजी की दी हुई डायरी उठाई और कुछ देर सोचते रहने के बाद वह लिखने लगा।

उसने बाऊजी के बारे में लिखा, फिर लाला गिरधारी लाल और उनकी कबूतरी शान के बारे में लिखा। फिर रुक गया।

सुबह वाली गली का दृश्य उसकी आंखों के सामने आ गया था—

खास तौर पर ऊपर की खिड़की से झांकती दो भोली मासूम आंखें और गली के नुक्कड़ तक पीछा करती वह आवाज...

"साथ वाले घर में एक नया परिवार आ गया है," मोहन ने लिखा। "उसमें एक लड़की भी है। उसे भी मेरी तरह ऊपर वाला कमरा पसंद है...लेकिन बाऊजी कहते हैं—उनकी रेपूटेशन अच्छी नहीं है। क्या सिर्फ इसलिए कि दोनों एक ही पेशे में हैं ?"

आगे वह क्या लिखे, उसे समझ में नहीं आया। डायरी उसके लिए अपनी शंकाओं को व्यक्त करने का माध्यम बन गई थी।

एकाएक उसकी नजर खिड़की के पास चली गई। दूसरे मकान के ऊपर वाले कमरे में बत्ती जल रही थी, हालांकि वहां किसी तरह की हलचल का कोई संकेत नहीं था।

मोहन फिर लिखने लगा। "उसके कमरे की बत्ती जल रही है। क्या उसके पिता ने भी उससे डायरी लिखने को कहा है ?"

उसने एक बार फिर खिड़की के पार देख लिया। दूसरे कमरे की बत्ती बुझ चुकी थी। उसने उधर से अपनी नजर घुमा ली। फिर दूसरे ही क्षण वह उधर देखने लगा। वहां अंधेरा था। खिड़की के पार अब भी कोई हलचल नहीं थी। दूसरे ही क्षण उसे लगा, अगर वहां कोई हलचल हो भी, तो उसे पता नहीं चलेगा। अँधेरे में खड़ा कोई उसे इस तरह देखते देख ले तो ? उसने डायरी बंद की, बत्ती बुझाई और बिस्तर पर लेट गया।

लेकिन काफी देर तक उसे नींद नहीं आयी। वे दो आंखें और वह आवाज बहुत देर तक उसका पीछा करती रही...

सुबह मोहन घर से निकला, तो वही चेहरा फिर उसके सामने आ गया।

वह अपने घर से निकल रही थी, उसने किताबों को अपनी बांह पर रखा हुआ था और उन्हें सीने से दबाये चल रही थी। स्कूल की यूनिफार्म में वह काफी चुस्त लग रही थी। उसने दो चोटियां कर रखी थीं और गले में चुन्नी भी डाल रखी थी।

मोहन को एक झटका-सा लगा—यह तो बहुत छोटी है! मुश्किल

से तेरह-चौदह की होगी। लेकिन वे आँखें !···उसकी उम्र तो बहुत ज्यादा लग रही थी।

उसके साथ उसकी सहेली थी और उसने सहेली से कहा था, "जल्दी चल, सुषी ! आज तो सजा मिल के रहेगी।"

तो सहेली का नाम सुषमा है ! पर उसका नाम क्या है ? मोहन सोचता रहा। उसने साइकल को जान-बूझकर धीमा कर दिया ताकि उनकी बातें सुन सके। शायद सुषमा किसी बात में उसका नाम जोड़ दे, लेकिन बहुत जल्दी गली का नुक्कड़ आ गया और मोहन संभलकर साइकल चलाने लगा।

कल वह गिरते-गिरते बचा था। आज गिरना ठीक नहीं होगा।

उसने मोड़ मुड़ने से पहले एक बार पीछे घूमकर जरूर देख लिया। वे दोनों तेज-तेज कदमों से चली आ रही थीं, सुषमा की आँखें सामने देख रही थीं लेकिन उसकी सहेली नीचे ही नीचे देखती चल रही थी।

कॉलेज में भी मोहन की आदतों में कोई फर्क नहीं आया था···वही झेंप, वही शर्मीलापन, अपने-आपमें गुम रहने की वही पुरानी आदत।

लड़कियों ने उसका नाम रखा छोड़ा था—डाचीवाला। और यह नाम उसे पहले ही दिन मिल गया था।

हुआ यह कि मोहन अपनी सजी-सजाई साइकल पर कॉलेज पहुंचा। उसने साइकल को स्टैंड पर खड़ा किया। पास ही लड़कियों का एक झुंड खड़ा था। कोई कह उठी : "हाय-हाय ! मैं सदके जाऊं !" और साथ ही उसने एक पंजाबी लोकगीत की पहली दो पंक्तियां छेड़ दीं :

"छम-छम करदी गली विचों लंघदी

नी माहे सजनां दी डाची बदामी रंगदी···"

"बादामी कहां री, यह तो कामी है।" किसी दूसरी लड़की ने उसकी बात में सुधार करते हुए कहा।

"कामी है तो क्या हुआ ! घहुनो से लदी छम-छम तो करती है।"

बीच में कोई तीसरी कह उठी थी, "जब साइकल की यह हालत है, तो दुल्हिन की क्या हालत होगी !"

इसके साथ ही हंसी का एक तूफान आ गया था।

मोहन उनकी ओर देखे बगैर ही गलियारे की ओर बढ़ गया था।

"गहनों का इतना ही शौक है तो बन जा उसकी डाची!" किसीने पहली लड़की को छेड़ा था।

और वह कुढ़ गई थी, "डाची बनेगी मेरी जूती।"

हंसी फिर फूट पड़ी थी।

मोहन को इस सबसे कोई सरोकार नहीं था। कॉलेज वह सिर्फ पढ़ाई के लिए जाता था। तफरीह उसकी आदतों में शुमार नहीं थी। लेकिन उसमें एक परिवर्तन भी आया था। जब वह स्कूल में था, तो वह स्कूल के बाद बाहर खेतों की ओर निकल जाता था। वहां कच्ची सब्जियां तोड़-तोड़कर खाना उसे अच्छा लगता था। लेकिन जब से पड़ोस में नया परिवार आ गया था, तब से उसे अपना कमरा अच्छा लगने लगा था।

शाम होती, तो वह अपनी खाट कमरे के बाहर डाल लेता। किताबें और अलगोजा उसके साथी होते। पड़ोस की छत पर वह लड़की बैठी रहती—फर्श पर चटाई या दरी बिछाए। किताब उसके सामने होती और किताब पढ़ते हुए वह पाठ को गुनगुनाती रहती।

नीचे, आंगन से, मां के किसी लोकगीत के गुनगुनाने का स्वर हवा में तैरता-सा ऊपर आता रहता।

बीच-बीच में वे एक-दूसरे को देख भी लेते। अक्सर उनकी आंख न मिलती, लेकिन जब मिलती, तो वे झेंपकर रह जाते। उन क्षणों में मोहन के शरीर में सनसनाहट-सी फैल जाती। वह सब कुछ भूल जाता। पढ़ने की कोशिश करता, तो किताब पर शब्दों के बजाय तरह-तरह की खूबसूरत तस्वीरें तैरती दिखाई देतीं। वह किताब एक ओर रखकर अलगोजा उठा लेता।

अंधेरा हो जाने तक यही क्रम चलता रहता।

फिर दोनों कमरों में बत्ती जल जाती।

इस नयी स्थिति ने मोहन को इतना व्यस्त बना दिया था कि वह ताऊजी

के शौक़ को क़रीब-क़रीब भूल ही चुका था ।

एक रात वह अपने कमरे में बैठा था । किताब उसके सामने खुली हुई पड़ी थी, लेकिन उसकी नज़रें सामने वाली खिड़की पर टिकी हुई थीं । अचानक मोहन के कानों में सीढ़ियों पर कदमों की आहट सुनाई दी । ताऊजी बहुत दिनों के बाद ऊपर आ रहे थे । मोहन ने झट से अपनी खिड़की बंद कर दी ।

दुर्गादास जी ऊपर आए और मोहन के कमरे के दरवाज़े में खड़े हो गए । मोहन पढ़ाई में डूब गया था । ताऊजी ने कमरे का एक चक्कर लगाया और फिर मोहन की खाट पर बैठते हुए बोले, "कमरे की हालत क्या बना रखी है तुमने ! तुमने तो [illegible] ! अपने आसपास सफ़ाई तो रखते हैं !"

मोहन ने एक उचटती-सी नज़र कमरे में डाली । उसे लगा, ताऊजी कहते तो ठीक हैं । सब तरफ़ बेतरतीबी है । लेकिन वह बोला कुछ नहीं ।

"माँ से कहो, सफ़ाई कर दिया करे…" ताऊजी ने कहा ।

"जी, कह दूँगा ।"

फिर ताऊजी ने पूछा, "डायरी लिखते हो ?" हाथ में पकड़े तिनके से वह दाढ़ी को कुरेद रहे थे ।

"जी, हाँ ।"

"अच्छा, एक काम तो तुमने अच्छा पकड़ा !" उन्होंने दाँतों में फँसे सींक के तिनके को उँगलियों से पकड़कर खींच लिया । "याद रखो, डायरी से बड़ा कोई दोस्त नहीं होता । सब बड़े लोग डायरी लिखते हैं । और जिसे बड़ा बनना होता है, वह हमेशा अकेला रहता है । सुख हो, तो सारी दुनिया साथ होती है । तकलीफ़ आदमी को अकेले ही भोगनी पड़ती है । तुम्हारी डायरी तुम्हारे दुःख-सुख, दोनों की साथी रहेगी । इससे कभी कुछ मत छुपाना…सब लिखते रहो—बस, तो नो प्रॉब्लम ! समझ गए न ?"

"जी ।"

एकाएक ताऊजी चिड़चिड़े हो उठे । नीचे स्वर में बोले, "तुम इतना चुप-चुप क्यों रहते हो ?"

इसके साथ ही हंसी का एक तूफान आ गया था।

मोहन उनकी ओर देखे बगैर ही गलियारे की ओर बढ़ गया था।

"गहनों का इतना ही शौक है तो बन जा उसकी डाची!" किसीने पहली लड़की को छेड़ा था।

और वह कुढ़ गई थी, "डाची बनेगी मेरी जूती।"

हंसी फिर फूट पड़ी थी।

मोहन को इस सबसे कोई सरोकार नहीं था। कॉलेज वह सिर्फ पढ़ाई के लिए जाता था। तफरीह उसकी आदतों में शुमार नहीं थी। लेकिन उसमें एक परिवर्तन भी आया था। जब वह स्कूल में था, तो वह स्कूल के बाद बाहर खेतों की ओर निकल जाता था। वहां कच्ची सब्जियां तोड़-तोड़कर खाना उसे अच्छा लगता था। लेकिन जब से पड़ोस में नया परिवार आ गया था, तब से उसे अपना कमरा अच्छा लगने लगा था।

शाम होती, तो वह अपनी खाट कमरे के बाहर डाल लेता। किताबें और अलगोजा उसके साथी होते। पड़ोस की छत पर वह लड़की बैठी रहती—फर्श पर चटाई या दरी बिछाए। किताब उसके सामने होती और किताब पढ़ते हुए वह पाठ को गुनगुनाती रहती।

नीचे, आंगन से, मां के किसी लोकगीत के गुनगुनाने का स्वर हवा में तैरता-सा ऊपर आता रहता।

बीच-बीच में वे एक-दूसरे को देख भी लेते। अक्सर उनकी आंख न मिलती, लेकिन जब मिलती, तो वे झेंपकर रह जाते। उन क्षणों में मोहन के शरीर में सनसनाहट-सी फैल जाती। वह सब कुछ भूल जाता। पढ़ने की कोशिश करता, तो किताब पर शब्दों के बजाय तरह-तरह की खूबसूरत तस्वीरें तैरती दिखाई देतीं। वह किताब एक ओर रखकर अलगोजा उ[ठा] लेता।

अंधेरा हो जाने तक यही क्रम चलता रहता।

फिर दोनों कमरों में बत्ती जल जाती।

इस नयी स्थिति ने मोहन को इतना व्यस्त बना दिया था कि वह बा

के शौक़ को क़रीब-क़रीब भूल ही चुका था ।

एक रात वह अपने कमरे में बैठा था । किताब उसके सामने खुली हुई पड़ी थी, लेकिन उसकी नज़रें सामने वाली खिड़की पर टिकी हुई थीं । अचानक मोहन के कानों में सीढ़ियों पर क़दमों की आहट सुनाई दी । बाऊजी बहुत दिनों के बाद ऊपर आ रहे थे । मोहन ने झट से अपनी खिड़की बंद कर दी ।

दुर्गादास जी ऊपर आए और मोहन के कमरे के दरवाज़े में खड़े हो गए । मोहन पढ़ाई में डूब गया था । बाऊजी ने कमरे का एक चक्कर लगाया और फिर मोहन की खाट पर बैठते हुए बोले, "कमरे की हालत क्या बना रखी है तुमने ! तुमसे तो बिल्लियाँ ही भली ! अपने आसपास सफ़ाई तो रखती हैं !"

मोहन ने एक उचटती-सी नज़र कमरे में डाली । उसे लगा, बाऊजी कहते तो ठीक हैं । सब तरफ़ बेतरतीबी है । लेकिन वह बोला कुछ नहीं ।

"माँ से कहो, सफ़ाई कर दिया करे…" बाऊजी ने कहा ।

"जी, कह दूँगा ।"

फिर बाऊजी ने पूछा, "डायरी लिखते हो ?" हाथ में पकड़े तिनके से वह दाँतों को कुरेद रहे थे ।

"जी, हाँ ।"

"अच्छा, एक काम तो तुमने अच्छा पकड़ा !" उन्होंने दाँतों में फँसे सींक के तिनके को अंगुलियों से पकड़कर खींच लिया । "याद रखो, डायरी से बड़ा कोई दोस्त नहीं होता । सब बड़े लोग डायरी लिखते हैं । और जिसे बड़ा बनना होता है, वह हमेशा अकेला रहता है । सुख हो, तो सारी दुनिया साथ होती है । तकलीफ़ आदमी को अकेले ही भोगनी पड़ती है…तुम्हारी डायरी तुम्हारे दुख-सुख, दोनों की साक्षी रहेगी । इससे कभी कुछ मत छुपाना…सच लिखते रहो—बस, तो नो प्रॉब्लम ! समझ गए न ?"

"जी ।"

एकाएक बाऊजी चिड़चिड़े हो उठे । तीखे स्वर में बोले, "तुम इतना चुप-चुप क्यों रहते हो ?"

मोहन उनके स्वर के पीछे की चिंता को समझ नहीं पाया। "कहां ?"
ह बोला, "ऐसा तो कुछ नहीं है..."

"कुछ क्यों नहीं है ? जब देखो, खोए रहते हो !"

मोहन चुप रह गया।

बाउजी उठ खड़े हुए और कमरे की सफाई के बारे में एक बार फिर हिदायत देकर चलने को हुए।

मोहन को लगा, कुछ कह देना चाहिए। उसे एक ही बात ध्यान में आयी और उसने वही कह डाली, "बाऊजी, कल मुझे नयी किताबें खरीदनी हैं..."

"तो इसमें इतना सोचने की क्या बात है ?" वह नर्म पड़ गए। "सुबह मुझसे पैसे ले लेना..." फिर जाने से पहले बोले, "जवां मर्द हो...मर्दों की तरह रहा करो। ऐसे दुनिया से कैसे लड़ोगे ?"

वह चले गए।

मोहन ने खिड़की की तरफ देखा। सामने वाली खिड़की बंद हो चुकी थी। वह सोच में डूब गया—पिता क्यों उसके सामने खुलने वाली हर खिड़की के सामने आ खड़े होते हैं ?...

यह स्थिति बचपन से ही चली आ रही थी। कुछ घटनाएं थीं, जो मोहन के अवचेतन में हमेशा के लिए बस गई थीं। फिर जरा-सी कुरेद लगते ही वे घटनाएं उसकी आंखों के सामने आ जातीं। इन घटनाओं ने उसके मन में बाऊजी की जो तस्वीर अंकित की थी, उसमें आतंक के अतिरिक्त कुछ नहीं था।

उसे याद आई वह शाम, जब वह पांच-छह बरस का था और रोते हुए घर में दाखिल हुआ था।

बाऊजी बरामदे में बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे।

"क्या हुआ, रोता क्यों है ?" उन्होंने पूछा था।

मोहन गली में अपने से बड़े लड़के से पिटकर आया था। सिसक
हुए उसने कहा था, "चन्नी ने मारा..." और मां की गोद में जगह ढूं
के लिए वह पास बैठी तारा की ओर बढ़ गया था।

बाऊजी ने उसे बाँह से पकड़कर खींच लिया था। "मार खा के रोता हुआ घर आ गया ! सूअर के बच्चे ! जा, मार के आ !" और उन्होंने उसे एक थप्पड़ रसीद करते हुए बाहर की ओर धकेल दिया था।

मोहन सन्न रह गया था।

"जाता क्यों नहीं ?" बाऊजी कड़के थे।

मोहन बिसूरता रहा था। "बन्नी मुझसे बड़ा है…"

"बड़ा हुआ तो क्या हुआ ! तेरे भी हाथ-पैर हैं…दो खाई थीं तो एक लगा भी तो सकता था !…ख़बरदार, आइंदा कभी रोता हुआ घर आया तो !…"

"अब छोड़ो भी…" माँ ने मोहन का पक्ष लेने की कोशिश की थी, तो बाऊजी ने डाँट दिया था, "लाड़-प्यार से ही तो बच्चे बिगड़ते हैं ! तुम तो इसे अपनी गोद में…"

माँ उठकर मोहन को नल की ओर ले गई थी और उसका आँसुओं से भरा चेहरा धोने लगी थी।

फिर रात को खाने के समय पिता के साथ बैठने का उसका मन नहीं हो रहा था। वह बहाना बनाने लगा था कि उसे भूख नहीं है। लेकिन बाऊजी ने उसे जबरदस्ती अपने पास बैठा लिया था।

तारा ने उनकी दाल वाली कटोरी में घी छोड़ा था, तो वह बोले थे, "इसकी दाल में भी छोड़ो।"

"घी नहीं खाता, इसीलिए तो पिट के आता है !" बाऊजी ने कहा था और तारा के हाथ से घी वाली कटोरी लेकर उन्होंने तीन-चार चम्मच घी मोहन की दाल में डाल दिया था। मोहन के लिए उस दाल को निगलना मुश्किल हो गया था, लेकिन उसे मालूम था, अगर उसने दाल नहीं खाई, तो और भी पिटेगा।

पूरा खाना उसने किसी बदजायका, कड़वी दवा की तरह खाया था…

5

उस दिन धूप काफी तेज पड़ रही थी। लू भी चल रही थी। जमीन तप रही थी। बस-अड्डे पर इक्का-दुक्का लोग ही थे। एक बस आई और रुक गई।

दुर्गादास जी अपने दफ्तर के बाहर खड़े थे कि उनकी नजर अपने नये पड़ोसी पर पड़ गई। उनके हाथ में कपड़े में बंधी हुई टोकरी थी और एक छोटा-सा सूटकेस। दुर्गादास जी ने उन्हें बुला लिया, "मैंने कहा, चंदरसेन जी!"

चंदरसेन ने घूरकर देखा और चेहरे पर मुसकराहट आ गयी। "आहा! आप हैं!" वह पास आ गये।

"कहां से आ रही हैं सवारियां?"

"कांता के ननिहाल गया था। साले के लड़के की शादी थी।"

"अच्छा-अच्छा! क्या बात है—परिवार साथ नहीं गया था?"

"वह लोग वहीं हैं। उन्होंने आने ही नहीं दिया···कल आएंगे।"

"आइए, बैठिए···"

चंदरसेन ऑफिस की कुर्सी पर बैठ गए, जो दरवाजे के पास ही छाया में रखी हुई थी। दूसरी कुर्सी पर दुर्गादास जी खुद बैठ गए।

दुर्गादास जी ने रक्खे से कहा कि वह लेमन-सोडे की एक बोतल ले आए।

"क्यों तकलीफ करते हैं, शाह जी, मैं घर ही तो जा रहा हूं," चंदरसेन बोले।

"घर भी चले जाना···सफर से आए हैं, प्यास तो लग ही आती है!" दुर्गादास जी ने कहा और नौकर चला गया। फिर वह बोले, "सुना है, आपने किराए का मकान लिया है···मुझे बताया होता, मैं सस्ते में खरीदवा देता—उगरसेन लंगोटिया है।"

चंदरसेन थोड़ा-सा झिझके। फिर बोले, "वो तो ठीक है, पर खरीदने

की हैसियत नहीं है अभी···वरना मैं खुद ही बात कर लेता···"

"ऐसी भी क्या बात है ! किस बात की कमी है ! दो-तीन ट्रक तो चलते ही हैं !"

"वो तो ठीक है···लेकिन नकद तो कुछ नहीं है न पल्ले में···"

दुर्गादास जी को बात समझ में आ गयी। जाहिर था चंदरसेन का काम ठीक नहीं चल रहा था। बोले, 'हां, यह बात तो है···रकम व्यापार में लगी हो, तो उसे निकालना भी ठीक नहीं···वैसे मकान तो वह अच्छा ही है···हवा-धूप खुली आती है···"

"वहीं देखकर ले लिया···"

रमेश लेमन-सोडे की बोतल ले आया और उसने अंगूठा लगाकर ऊपर हथेली मारी और बोतल खोलकर चंदरसेन को थमा दी।

"आप नहीं पियेंगे ?" चंदरसेन ने पूछा।

"आप पियो जी···हमारा क्या है ! ···" कहकर दुर्गादास जी एका-एक उदासीन हो गए। चंदरसेन को कुछ अजीब-सा तो लगा, लेकिन वह कुछ बोले नहीं। बोतल खाली की और इजाजत लेकर घर की ओर चल दिए।

दूसरी शाम मोहन को उस बड़ी-बड़ी भोली आंखों वाली लड़की का नाम मालूम हुआ।

सूरज ढलने को ही था। मोहन छत की दीवार पर झुका खड़ा था। आंगन में मां उसके लिए स्वेटर बुन रही थी कि दरवाजे से आती कदमों की आहट सुनकर उसने उधर देखा था।

नयी पड़ोसिन अपनी बेटी से कह रही थी, "चल भी न तारा ! तेरी मौसी का घर है···शरमाती क्यों है ?"

मोहन के कान खड़े हो गए।

दो क्षण बाद ही वह लड़की, तारा, अपनी मां के साथ आंगन में आ गयी। तारा के हाथ में एक प्लेट थी, जिसपर रूमाल पड़ा हुआ था।

उसके पांवों में झिझक थी।

आंगन में तारा के पास पहुंचकर, उसने धीरे से सिर झुका···

5

दिन धूप काफी तेज पड़ रही थी। लू भी चल रही थी। जमीन रही थी। बस-अड्डे पर इक्का-दुक्का लोग ही थे। एक बस आई और क गई।

दुर्गादास जी अपने दफ्तर के बाहर खड़े थे कि उनकी नजर अपने नये पड़ोसी पर पड़ गई। उनके हाथ में कपड़े में बंधी हुई टोकरी थी और एक छोटा-सा सूटकेस। दुर्गादास जी ने उन्हें बुला लिया, "मैंने कहा, चंदरसेन जी!"

चंदरसेन ने घूरकर देखा और चेहरे पर मुसकराहट आ गयी। "आहा! आप हैं!" वह पास आ गये।

"कहां से आ रही हैं सवारियां?"

"कांता के ननिहाल गया था। साले के लड़के की शादी थी।"

"अच्छा-अच्छा! क्या बात है—परिवार साथ नहीं गया था?"

"वह लोग वहीं हैं। उन्होंने आने ही नहीं दिया…कल आएंगे।"

"आइए, बैठिए…"

चंदरसेन ऑफिस की कुर्सी पर बैठ गए, जो दरवाजे के पास ही छाया में रखी हुई थी। दूसरी कुर्सी पर दुर्गादास जी खुद बैठ गए।

दुर्गादास जी ने रक्खे से कहा कि वह लेमन-सोडे की एक बोतल आए।

"क्यों तकलीफ करते हैं, शाह जी, मैं घर ही तो जा रहा हूं," चं सेन बोले।

"घर भी चले जाना…सफर से आए हैं, प्यास तो लग ही है!" दुर्गादास जी ने कहा और नौकर चला गया। फिर वह

"सुना है, आपने किराए का मकान लिया है…मुझे बताया होता, में खरीदवा देता— उगरसेन लंगोटिया है।"

चंदरसेन थोड़ा-सा झिझके। फिर बोले, "वो तो ठीक है, प

की हैसियत नहीं है अभी···वरना मैं खुद ही बात कर लेता···"

"ऐसी भी क्या बात है ! किस बात की कमी है ! दो-तीन ट्रक तो चलते ही हैं !"

"सो तो ठीक है···लेकिन नकद तो कुछ नहीं है न पल्ले में···"

दुर्गादास जी को बात समझ में आ गयी। जाहिर था चंदरसेन का काम ठीक नहीं चल रहा था। बोले, 'हां, यह बात तो है···रकम व्यापार में लगी हो, तो उसे निकालना भी ठीक नहीं···वैसे मकान तो यह अच्छा ही है···हवा-धूप खुली आती है···"

"यही देखकर ले लिया···"

रक्खा लेमन-सोडे की बोतल ले आया और उसने अंगूठा रखकर ऊपर हथेली मारी और बोतल खोलकर चंदरसेन को थमा दी।

"आप नहीं पियेंगे ?" चंदरसेन ने पूछा।

"आप पियो जी···हमारा क्या है ! ···" कहकर दुर्गादास जी एकाएक उदासीन हो गए। चंदरसेन को कुछ अजीब-सा तो लगा, लेकिन वह कुछ बोले नहीं। बोतल खाली की और इजाजत लेकर घर की ओर चल दिए।

दूसरी शाम मोहन को उस बड़ी-बड़ी भोली आंखों वाली लड़की का नाम मालूम हुआ।

सूरज ढलने को ही था। मोहन छत की दीवार पर झुका खड़ा था। आंगन में मां उसके लिए स्वेटर बुन रही थी कि दरवाजे से आती कदमों की आहट सुनकर उसने उधर देखा था।

नयी पड़ोसिन अपनी बेटी से कह रही थी, "चल भी न कांता ! तेरी मौसी का घर है···शरमाती क्यों है ?"

मोहन के कान खड़े हो गए।

दो क्षण बाद ही वह लड़की, कांता, अपनी मां के साथ आंगन में आ गयी। कांता के हाथ में एक प्लेट थी, जिसपर रूमाल पड़ा हुआ था।

उनके पांवों में झिझक थी।

आंगन में तारा के पास पहुंचकर, उसने धीरे से

कहा, "नमस्ते, मौसी जी···"

मां ने जैसे और प्रोत्साहित किया, "अरी, मरी क्यों जाती है? जोर से बोल! घर में तो चहकती फिरती है।"

कांता और भी सकुचा गयी। तारा के चेहरे पर ममता-भरी मुसकराहट बिखर आयी। उसने ऊन का गोला और हाथ की बुनाई को एक ओर रख दिया और दोनों हाथ फैलाकर बोली, "आओ-आओ, बैठो···"

कांता और उसकी मां, फूलवंती, चारपाई पर बैठ गयीं।

"जी लग गया नये घर में?" तारा ने कांता के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा।

कांता ने झुके सिर से ही जवाब दिया, "हां, जी।"

"जी तो लगाना ही पड़ता है, बहन जी," फूलवंती ने कहा, "अपने-आप थोड़े ही लगता है।···"

"क्यों, मेल-मिलाप रहे तो जी अपने-आप लगा रहता है···" तारा ने कहा।

कांता ने अपने हाथ में थमी तश्तरी तारा की ओर बढ़ा दी—"मौसी जी···यह···।"

तारा ने तश्तरी ले ली। उसपर से रूमाल हटाया। तश्तरी में थोड़े-से लड्डू और मिठाई थी।

"कोई शादी थी?" तारा ने तश्तरी को चारपाई पर ही रखते हुए पूछ लिया।

"हां," फूलवंती ने जवाब दिया, "मेरे भतीजे की···आज ही लौटकर आए हैं।"

तारा ने एक बार फिर कांता के सिर पर हाथ रख दिया और पूछा, "पढ़ने जाती हो?"

"जी," कांता ने हौले से कहा।

"कौन-सी जमात में हो?"

"जी, नौवीं में···"

इसके साथ ही कांता ने जरा-सा सिर उठाया, उसकी आंख एक क्षण

के लिए छत की तरफ गयी, दूसरे ही क्षण उसने सिर झुका लिया।

मोहन लगातार उसे ही देखे जा रहा था और उसके पूरे बदन में झनझनाहट हो रही थी।

"यह बड़ी लड़की है न?" तारा ने फूलवंती से फिर पूछा।

फूलवंती ने एक ठंडी आह भर ली। "बड़ी या छोटी—अपनी तो जो भी है, एकम-एक यही है, बहन जी!"

तारा को लगा, फूलवंती को इस बात का कहीं गम है कि उनके लड़का नहीं है। मुस्कराते हुए बोली, "बड़ी प्यारी बच्ची है!···बड़ी शर्मीली··· बेटों से भी बढ़कर!···" फिर कांता के सिर को प्यार से झकझोरती-सी बोली, "मां का हाथ बंटाती है न बेटी?"

"जी," कांता ने धीरे से कहा।

"मेरी रानी, बेटी।···" उसने कांता का सिर चूमते हुए अपनी छाती के पास खींच लिया, "कभी-कभी आ जाया कर···यह भी तेरा अपना ही घर है···"

कांता की झपकती हुई आंखें छत की ओर चली गयीं। मोहन की परछाईं ही नजर आ रही थी।

"बोल, आएगी न?" तारा ने पूछा।

"जी, आऊंगी···"

फूलवंती उठने को हुई। "अच्छा, बहन जी···अब चलते हैं···"

"लो! इतनी जल्दी!" तारा ने फूलवंती के घुटने पर हाथ रख दिया, "ऐसे मैं जाने नहीं दूंगी···"उसने कहा और फिर मोहन को आवाज दी।

मोहन ने छत से नीचे झांका, "क्या है, मां?"

"जा बेटा! जरा हलवाई से भागकर गरम-गरम समोसे तो ले आ!"

"अभी लो, मां!" मोहन ने जल्दी से पांवों में चप्पलें उड़सीं और सीढ़ियां उतरने लगा। लेकिन फूलवंती की बात सुनकर वहीं अटक गया।

"नहीं, बहन जी···आज नहीं···अभी कई घरों में जाना है···देर हो

जाएगी…"

"पांच-दस मिनट में क्या फर्क पड़ जाएगा !" तारा ने कहा, "ऐसे मन थोड़े ही भरता है…"

"मैंने कहा न फिर किसी दिन आ जाऊंगी…"

तारा का चेहरा उतर-सा गया। मोहन का उत्साह भी ठंडा पड़ गया।

"अच्छा…"

तारा मिठाई वाली प्लेट उठाकर रसोई में गयी। मिठाई को दूसरी प्लेट में रखकर उसने खाली प्लेट पर थोड़ा-सा गुड़ रख दिया और वह प्लेट उसने कांता को थमा दी। साथ ही बोली, "आना जरूर…"

"जी, आऊंगी…" कांता ने कहा।

कांता अपनी मां के साथ जाने लगी, तो एक वार कनखी से उसने सीढ़ियों में खड़े मोहन की ओर देख लिया। मोहन उसीकी ओर देख रहा था। कांता हलके से मुसकरा दी और फिर मां के साथ दहलीज पार कर गयी।

उस रात मोहन ने अपनी डायरी में लिखा :

"उसका नाम कांता है। नवीं जमात में पढ़ती है। कांता ! कितना प्यारा नाम है ! कांता का मतलब क्या होता है ? कांत से ही कांता बना होगा…कांत यानी पति…कांता यानी…"

उस दिन के बाद उनकी मुलाकातें करीब-करीब रोजाना होने लगीं। कभी हलवाई की दुकान पर, कभी बेकरी में, कभी गली में, कभी बाजार में। दोनों एक-दूसरे की तरफ देखते और उनकी आंखों में चमक आ जाती, चेहरे का रंग लाल हो जाता, ओठ मुस्कराने लगते।

या फिर मोहन अपनी चारपाई पर लेटा अलगोजा बजाता रहता। कांता अपने कमरे में बैठी पढ़ती रहती—लेकिन उसका मन किताब में कम, अलगोजे की सुरीली आवाज में ज्यादा होता।

फूलवंती का तारा से मेलजोल भी बढ़ गया। वे दोपहर के वक्त आंगन में बैठ सवैयां बनाती रहतीं और बाबुल गाती रहतीं। या फिर

चुन्नियों पर सलमा-सितारे लगाती रहती और गाती रहती।

मोहन और कांता के बीच आंखों ही आंखों में बातें होती रहती। गुपचुप। छत पर।

लेकिन सच बात यह भी थी कि मोहन कांता से बात करने को उतावला हो रहा था। अपनी डायरी में वह जाने कितनी बातें उससे कर चुके था, लेकिन डायरी मुखरता का प्रतिरूप कभी नहीं बन सकती थी।

एक दिन उससे नहीं ही रहा गया, तो वह तेजी से कमरे से निकला और सीढ़ियां उतरकर बाहर चला गया।

उसने कांता को गली में जाते हुए देख लिया था। उसके हाथों में छोटी-सी टोकरी में दाने थे, जिन्हें वह भुनाने जा रही थी।

गली ज्यादा चौड़ी नहीं थी—और सामने से बड़े-बड़े सींगों वाली गाय आ रही थी। कांता एकदम सहम गई। लेकिन तभी मोहन कांता और गाय के बीच आ गया और उसने गाय को परे हटा दिया।

इस आपाधापी में कांता की टोकरी से दाने उछलकर गली में बिखर गए और उसकी सूरत रुआंसी हो आई।

एकाएक वह वापस पलटने लगी।

"अरे!" मोहन के मुंह से निकला, "कहां चल दीं?"

कांता कुछ नहीं बोली। उसने एक बार नजर भरकर मोहन की तरफ देखा और फिर घूम गई।

"घर जा रही हो? और दाने लेने?" मोहन ने पूछा।

कांता रुक गई। धीरे से बोली, "हां।"

"रहने दो···चलो, भट्टी वाली से ही ले लेंगे···" मोहन ने कहा।

"न, बाबा!" कांता बोली, "अच्छे न मिले तो?"

"मिल जायेंगे···चलो न!" मोहन के स्वर में इतना इसरार था कि कांता न नहीं कर सकी। चुपचाप उसके साथ चलने लगी।

"तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आये?" कुछ कदम चलते रहने के बाद कांता ने बड़ा भोला-सा सवाल किया।

मोहन ने उसके चेहरे की ओर देखा। कुछ बोला नहीं। उसे लगा, कांता अपने सवाल का जवाब खुद ही दे लेगी।

"मां से डरती हो ?" उसने पूछा।

"नहीं, मां तो कुछ नहीं कहती। वाऊजी का गुस्सा बड़ा खराब !"

"सारे वाऊजी ऐसे ही होते हैं..." मोहन ने जैसे अपने-आपसे कहा। फिर पूछा, "डांटते हैं ?"

"डांट का क्या है ! वह तो रोज ही पड़ती है..."

"क्यों ?"

"डांटने के लिए भी किसी वजह की जरूरत होती है ! पड़ती है, सो पड़ती है—बस !"

मोहन को हंसी आ गई। कांता भौंचक-सी उसकी तरफ देखने लगी।

भट्ठी वाली बड़ी शोख थी। काली-कलूटी। चेहरे और गर्दन और हाथ-पैरों पर गहरी बारीक शिकनें। सर के बाल सन जैसे, मानो बरसों से तेल की एक बूंद न मिली हो। छींट का कुर्ता और काली सलवार पहने रहती। कानों में चांदी के झुमके। दाने भूनते-भूनते वह लड़के-लड़कियों से मजाक भी करती जाती।

कांता भट्ठी के पास ही बैठ गई। भट्ठी में जलते हुए घास-फूस और इंधन, तपती हुई रेत, भुनते हुए दानों और धुएं की मिली-जुली महक में अजीब-सी मस्ती थी।

"तुझे क्या चाहिए, री छोकरी ?" भट्ठी वाली ने कांता से पूछा, भट्ठी की तपिश से अब तक कांता का चेहरा लाल हो गया था और उसकी नाक पर पसीने के बारीक-बारीक मोती उभर आए थे। कड़वे धुएं से आंखें भी पनीली हो उठी थीं।

मोहन ने रास्ते में ही उसे अठन्नी थमा दी थी। उसने वह अठन्नी भट्ठी वाली को दी और बोली, "आठ आने के चने भून दो, चाची।"

भट्ठीवाली ने डिब्बे की मापनी से मापकर चने कड़ाही में डा[illegible] दिए। तभी मोहन बोल उठा, "चाची, दस पैसे के चने मुझे भी..."

"अच्छा-अच्छा...रूमाल लाया है ?"

"रूमाल क्या करोगी, चाची ?"

"दाने किसमें ले जाएगा ?"

"क्यों चाची, पतलून की जेबें तो हैं !"

भट्ठीवाली हंस दी, "क्यों रे ! गरमी सह लेगा दानों की !"

मोहन चुप रह गया। चाची कह तो ठीक रही थी, लेकिन उसने मुट्ठी-भर दाने और कड़ाही में डाल दिए थे।

कांता कड़ाही के पास बिखरे ज्वार के फूले हुए दाने चुन-चुनकर एक-एक करके मुंह में डाल रही थी।

चने भुन गए, तो भट्ठीवाली ने उन्हें रेत में ही दल दिया। फिर छलनी से रेत छानकर और छिलके उड़ाकर उसने दाने कांता की टोकरी में डाल दिए। साथ ही बोली, "ले बेटी, मुट्ठी-भर दाने इसे भी निकालकर दे देना !"

"अच्छा चाची !" कांता ने कहा और टोकरी लेकर उठ खड़ी हुई। मोहन उसके पीछे-पीछे चल दिया।

फिर रास्ते-भर वह दाने ही खाता गया। गली के मोड़ पर पहुंचकर वे अलग हो गये, जैसे एक-दूसरे को जानते ही न हों।

6

उस दिन के बाद मोहन और कांता थोड़ा-थोड़ा और खुलने लगे, बातों के कई तरीके निकल आये थे, कभी कागज पर कोई बात लिखी जाती और उसकी गेंद बनाकर दूसरी छत पर फेंक दी जाती। दूसरी तरफ से बात का जवाब उसी कागज की गेंद पर आ जाता। कभी दीवार के बीच बने झरोखों से मुंह सटाकर कुछ फुसफुसा दिया जाता। कभी बीच की दीवार का ऊपरी सपाट सिरा तख्ती बन जाता और उस पर इबारतें लिखी जातीं और, मिटा भी दी जातीं। यह सब भी मुमकिन न होता—किसी दूसरी छत पर कोई खड़ा नजर आ जाता—तो आंखों ही आंखों

में बातें चलती रहतीं।

मोहन का मन पढ़ाई में खूब-खुब लगने लगा वही किताबें जो पहले उबाऊ लगती थीं, अब अच्छी लगने लगीं। कांता अपनी पढ़ाई से संबंधित कई तरह के सवाल भी पूछने लगी थी, जिनका जवाब या हल देना बहुत जरूरी था। इसलिए भी वह निरंतर कुछ न कुछ पढ़ता रहता। कभी-कभार अलगोजा वह जरूर उठा लेता, लेकिन साइकल का इस्तेमाल सिर्फ कॉलेज आने-जाने के लिए ही होता।

उस शाम हवा काफी तेज चल रही थी। आसमान में बादल भी थे, लेकिन बारिश के आसार नहीं थे। मोहन अपने कमरे में लेटा अलगोजा बजा रहा था कि छत पर कुछ गिरने की बड़ी हल्की-सी आवाज हुई। मोहन चौंककर उठा। कागज का गोला ठीक दरवाजे के पास आकर गिरा था।

मोहन ने गोले को देखा, फिर कांता के कमरे की तरफ। वह धीरे-धीरे मुस्करा रही थी।

मोहन ने झुककर गोले को उठा लिया। उसे खोला, तो लिखा था :

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गयी लाल॥

नीचे लिखा था :

"इस दोहे का अर्थ लिख दो।"

और साथ ही :

"आज अंदर क्यों छिपे बैठे हो? बाहर कितनी अच्छी हवा चल रही है।"

मोहन ने एक बार फिर कांता के कमरे की ओर देखा। वह सिर झुकाये अपनी किताब पढ़ रही थी।

उसने उसी कागज पर दोहे का अर्थ लिखा और नीचे लिख दिया, "बाहर निकलकर होगा भी क्या?" फिर बाहर आकर उसने कागज का गोला बनाकर दूसरी छत की तरफ फेंका। कांता उम्मीद भरी नजर से उसीकी ओर देख रही थी। लेकिन सहसा उसका दिल धक् से रह गया। गोला दीवार को पार करके आंगन में जा गिरा था।

कांता ने मुंह बनाया। मोहन को हंसी आ गयी।

कांता ने मुंडेर के पास जाकर आंगन में भांका। यह देखकर उसकी जान में जान आयी कि आंगन में कोई नहीं था और गोली दीवार के पास लगे अमरूद के पेड़ के पास जाकर गिरा था।

वह तेजी से सीढ़ियां उतर गयी। आंगन में पहुंच कर वह अमरूद की तरफ बढ़ ही रही थी कि मां की आवाज सुनायी दी, "कांता ?"

"हां, मां !"

"क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, मां..."

"फिर इतना घबरायी क्यों है ?"

"ऐसे ही...बड़ी प्यास लगी थी...एक गिलास पानी दे दो।"

"जाकर रसोई में से ले ले..."

कांता रसोई में चली गयी और पानी का गिलास भरकर झट से बाहर भी आ गयी। पानी पीते हुए उसने देखा, मां कमरे में चली गयी थी। उसने दो घूंट ही भरे, गिलास को खिड़की में ही रखा और भागकर कागज के गोले को उठा लिया। वह सीढ़ियों की तरफ मुड़ी ही थी कि फिर मां की आवाज आयी, "कांता !"

"हां, मां !" वह ठिठक गयी।

"स्कूल का काम जल्दी से पूरा करके आ जा। तेरे बाऊजी आते ही ही होंगे।..."

"अभी आयी मां ! ...तुम फिक्र मत करो..."

मां के हाथों में छाजन थी। हर पन्द्रह-बीस दिनों बाद उनमें से पानी रिसने लगता था।

दूसरे दिन स्कूल जाते वक्त कांता की मुलाकात मोहन से होने लगी। कांता अभी तक मुंह फुलाये हुए थी। कल, बस, पकड़ी गयी थी न !

मोहन उसके गुस्से को भांप गया। छेड़ते हुए बोला, "क्या हुआ ! पकड़ी गयी ?"

"बस, बच ही गयी !" उसने कांप कर कहा।

अपनी साइकिल को ठेलते हुए मोहन ने कहा, "खुद आकर नहीं पूछ सकती थीं ?"

"न बाबा !" कांता की आंखें और भी बड़ी होकर फैल गयीं। "तुम्हारे बाऊजी से बड़ा डर लगता है।"

"क्यों ?"

"वह तो मेरे बाऊजी से भी ज्यादा गुस्से वाले लगते हैं !"

"हूं···तो ?"

"तो क्या ?"

"कुछ नहीं···बाद में बताऊंगा। चलो, तुम्हें साइकल पर छोड़ दूं···"

"न···मैं चली जाऊंगी।"

मोहन धीरे से हंस दिया, "कभी तो साइकल पर बैठना ही पड़ेगा···" वह बोला। कांता देखती रह गई। मोहन साइकल पर सवार होकर निकल गया।

मोहन की उस बात को पूरा होने में ज्यादा दिन नहीं लगे।

उसकी एक आदत-सी बन गई थी। कॉलेज से छूटकर वह खेतों और टीलों की ओर जाने की बजाय कांता के स्कूल के बाहर के घने बर-गद के नीचे जाकर खड़ा हो जाता। स्कूल खत्म होता और कांता बाहर निकलती। कुछ दूर तक वह अपनी सहेलियों के साथ चलती रहती। मोहन भी पीछे-पीछे चलता रहता। फिर कांता सहेलियों से विदा ले लेती और मोहन से आ मिलती। फिर वे दोनों सड़क पर साथ-साथ चलते रहते। खूब बातें होतीं। मोहन ज्यादा बोलता, कांता कम। फिर जब गली का मुहाना आ जाता तो कांता मुड़ जाती। मोहन साइकल पर सवार होकर आगे निकल जाता।

एक दिन छत पर बैठे मोहन ने कागज पर लिखा—"अगले शुक्रवार को नहर पर मेला लगेगा—चलोगी ?" और कागज की गेंद उसने साथ की छत पर फेंक दी।

जवाब आया, "ले जाओगे तो जरूर चलूंगी।"

मोहन ने फिर लिखा, "डरोगी तो नहीं ?"

जवाब आया, "तुम हो तो डर कैसा ?"

"लेकिन गली से निकलोगे कैसे ? घर में क्या कहोगी ?"

"मैं सुषी को साथ लेकर जाऊंगी। सुषी बतायेगी, मैं उसके घर जा रही हूं, तुम रास्ते में मिलना···"

"ठीक है···यही ठीक रहेगा। बस, सुषमा को समझा लेना।"

"उसकी फिक्र मत करो।"

शुक्रवार अभी तीन दिन दूर था। दोनों के लिए ये तीन दिन काटने भारी हो गए थे। लेकिन वक्त कटता तो है ही। शुक्रवार भी आ गया···और उस दिन पहली बार कांता मोहन की साइकल पर बैठी—मेले में जाने के लिए।

कांता घर से सुषमा के साथ निकली थी—उसके घर जाने के लिए। मोहन सुषमा के घर से थोड़ा-सा इधर ही मिल गया था। सुषमा ने मुस-कराकर कांता की ओर देखा था और फिर अपने घर की ओर मुड़ गई थी।

मोहन ने कांता को साइकिल की रॉड पर बिठा लिया था और फिर वे तेजी से शहर से बाहर निकल गए थे।

मेले में भीड़ ही भीड़ थी। कांता और मोहन जी भरकर घूमे। मोहन ने उसे स्टील की एक अंगूठी लेकर दी, जिसपर सांप बना हुआ था। दो-तीन हार लेकर दिए, मोतियों के, पीतल के बने झुमके भी। कांता ने उन्हें अपने रूमाल में बांध लिया।

फिर जब उन्हें लगा कि लोगों के लौटने का वक्त होने को है, वे वापसी के लिए चल दिए।

भीड़ से अलग हटकर कच्चे रास्ते पर पहुंचे, तो कांता बोली, "रुको · जरा···"

'क्या हुआ ?" मोहन ने पूछा।

"कुछ नहीं···ऐसे ही···" कांता ने शरमाते-मुसकराते हुए अपने कुरते की जेब से एक रूमाल निकाला और मोहन की ओर बढ़ाते हुए बोली, "यह लो।"

मोहन ने रूमाल लिया। उसकी तह को खोला, तो उसके एक कोने में उसे कढ़ाई में अंग्रेजी के दो अक्षर दिखाई दिए—'एम० के०'

"यह क्यों?" मोहन ने मन ही मन खुश होते हुए पूछा।

"तुमने मुझे इतना कुछ ले दिया...एक रूमाल ही तो है!" कांता बोली।

दूर पीछे छूटते मेले में कहीं ग्रामोफोन रेकार्ड बज रहा था—'छल्ला दे जा निशानी...तेरी बड़ी मेहरबानी...'

7

वक्त पंख लगाकर उड़ने लगा था। मोहन के भीतर अजीब-सा अहसास घर कर गया था। उसे महसूस होने लगा था, दुनिया उतनी बुरी नहीं है, जितनी वह उसे समझे हुए था। इसमें अपनापन भी है। खूबसूरती भी है। उसकी डायरी इसी तरह की बातों से भरती गई। शब्द काव्यमय हो उठे। अपनी डायरी और अलगोजे और किताबों को लिए वह पहाड़ी पर बने बाग में घूमता रहता। जाने किस मस्ती में वह उसकी पांच सौ सीढ़ियां उतरता चला जाता। अनार के बगीचे के बीच बनी बारादरी की ऊपरी मंजिल पर वह जा बैठता और पेड़ों और दीवारों, पंछियों और फूलों हवाओं और फिजाओं को बताता रहता कि उसकी जिंदगी किस कदर बद गई है...कि एक छोटी-सी, अबोध-सी परी ने, जिनका नाम कांता है, उ उसके जीवन में खुशनुमा इंद्रधनुषी रंग भर दिए हैं। वक्त सचमुच प लगाकर उड़ रहा था, क्योंकि पता तभी चला, जब परीक्षाओं के दिन नजदीक आ गए।

परीक्षाओं के दिन निकट आ गए, तो मोहन और कांता के बीच मूक समझौता हो गया।

"अब पढ़ाई में दिल लगाना होगा।"

"हां, अब दिल पढ़ाई में लगाना होगा।"

"लगता तो नहीं, पर लगाना पड़ेगा।"

"हां, लगता नहीं, पर लगाना पड़ेगा।"

"वरना रिजल्ट बिगड़ जाएगा।"

"हां, रिजल्ट नहीं बिगड़ना चाहिए।"

"मगर किताबों में आंखें दिखाई दें तो?"

"हां, अगर किताबों में अलगोजे की धुन सुनाई दे तो?"

"उन आंखों पर हाथ रख देना होगा···"

"अलगोजे के स्वरों को दबा देना होगा···"

"कैसे होगा यह?"

"हां, सचमुच कैसे?"

"जैसे भी हो···करना तो होगा ही।"

"ठीक बात है···"

···बात ठीक थी, लेकिन उतनी आसान भी नहीं थी कि बस कह दिया और हो गया। दिल सचमुच छपे-लिखे अक्षरों में दूर-दूर छिटकता रहता। आंखें एक-दूसरे के कमरों की ओर उठती रहतीं। लेकिन यह कोई अच्छी बात नहीं थी। इम्तहान में फेल होकर एक-दूसरे की नजरों में नालायक साबित होना कोई सुखद कल्पना नहीं थी।

फिर दोनों ने रास्ता निकाल लिया। कांता ने सुषमा को अपने साथ रखना शुरू कर दिया। कभी वह उसके घर चली जाती, कभी उसे अपने यहां बुला लेती। सुषी मोहन के बारे में कभी कोई बात छेड़ना चाहती थी, तो कांता आंखों की एक ही चमक से उसे बरज देती।

मोहन ने पुरानी बारादरी को अपना अध्ययन कक्ष बना लिया।

···लेकिन मोहन का घर से इतने-इतने लंबे समय तक बाहर रहना दुर्गादास जी को फिर अखर गया। एक रात खाना खाने के बाद वह मोहन के कमरे में जा धमके। वह अपनी कुर्सी पर बैठा था और सोच रहा था कि किस विषय की पुस्तक उठाए।

"कैसी तैयारी चल रही है!" उन्होंने सौंफ चबाते हुए पूछा।

"अच्छी ही चल रही है, बाऊजी।"

"कितने दिन बाकी हैं इम्तहान शुरू होने में ?"

"दस दिन हैं अभी।"

बाऊजी आ कर उसकी खटिया पर बैठ गए और फिर उसकी पीठ की र घूमते हुए बोले, "खाने के वक्त पूछना मैंने ठीक नहीं समझा···कई नों से देख रहा हूं···सारा-सारा दिन तुम रहते कहां हो ?"

मोहन जानता था, अगर उसने सच बता दिया, तो बाऊजी और ुस्से से बात करेंगे। फिर पढ़ना मुश्किल हो जाएगा। एक दिन बरबाद हो जाएगा।

"एक दोस्त के साथ पढ़ता हूं···" उसने उनकी ओर देखे बिना हां कहा, "हम एक-दूसरे से पूछ भी लेते हैं···"

लेकिन उसकी बात से बाऊजी को तसल्ली नहीं हुई। "दोस्तों के साथ कितनी पढ़ाई होती है, मैं जानता हूं···" वह जरा तुर्शी से बोले, "पढ़ाई के बहाने आवारागर्दी होती होगी !"

"आप ऐसा क्यों सोचते हैं, बाऊजी ?" मोहन को खुद समझ नहीं आया कि वह सवाल कैसे कर गया।

"मैं जानता हूं, इसलिए ऐसा कहता हूं। तुम्हें अलग कमरा दे रखा है—इसीलिए न कि तुम्हारी पढ़ाई में खलल न पड़े ! फिर दूसरों के घर जाने की क्या जरूरत है ?"

अब मोहन की हिम्मत नहीं हुई कि जवाब दे सके। बाऊजी उठकर उसके पास आ खड़े हुए।

"डायरी लिखते हो कि बन्द कर दिया ?"

"आजकल···कभी-कभी लिख लेता हूं···"

"दूसरों की डायरी पढ़ना अच्छा नहीं होता, वरना पता चल जा कि तुम करते क्या रहते हो···" मोहन को समझ नहीं आया कि बाऊ यह बात उससे कह रहे थे या अपने-आपसे। मगर उनकी अगली ब उसकी समझ में जरूर आ गई, क्योंकि बाऊजी ने उसकी गर्दन पर कते बालों को पकड़कर खींचते हुए कहा था, "और अयाल किस में बढ़ा रखी है ?"

बाऊजी अपने चेहरे को उसके चेहरे के सामने लाकर उसकी

में झांक रहे थे। मोहन ने अपनी नजर नीची कर ली।

"सुबह पैसे ले जाना और नाई के सामने सिर झुका देना—तुम्हें मिरासी से आदमी बना देगा—याद रहेगा?"

"जी।"

बाऊजी चले गए।

कुछ देर बाद मोहन अपने आपे में लौटा। फिर उसने सामने की खिड़की के पार देखा। कांता के कमरे की खिड़की बंद थी, लेकिन अंदर बत्ती जल रही थी। उसका जी चाहा वह एक बार उसका दिया हुआ रूमाल निकालकर देख ले। फिर उसने टाल दिया। बाऊजी फिर आ गए तो?

कुछ ही दिन बाद दोनों की परीक्षाएं शुरू हो गयीं। ओह! कितना मुश्किल हो रहा था सवालों के जवाब लिखना!···बार-बार एक-दूसरे का चेहरा प्रश्नपत्र में झांकने लगता, लेकिन अब कोई मौका नहीं था उस चेहरे में झांकने का। वे अपना सिर झटक देते और फिर उत्तर-पुस्तिका पर झुक जाते।

मोहन का आखिरी पर्चा हुआ। थकान उसके पोर-पोर में समाई हुई थी। आंखें नींद की कमी के कारण लाल हो रही थीं। चेहरे की रंगत पीली पड़ी हुई थी।

परीक्षा कक्ष से निकलकर वह कॉरीडोर में आया। लड़के-लड़कियां रोज की तरह बतिया रहे थे—बस, निश्चिन्तता कुछ ज्यादा थी।

'आज तो मजा आ गया···ए-वन पेपर हुआ है!"

"अपने राम तो दो सवाल कर ही नहीं पाए!"

"तुम्हारी तो आदत ही यही रही है! दो सवाल फर्स्ट क्लास, दो घसीटे हुए, दो-एक बाकी···फिर भी, साले, तुम फर्स्ट डिवीजन ले आते हो!"

"एग्जामिनर को छोले दे आना होगा!"

हंसी।

"आज तो पिक्चरें हो जायें!"

"क्यों नहीं ! क्यों नहीं !!"
"जैसे रोज नहीं होती थीं !"
"हर रोज पिक्चर होती थी—आज पिक्चरें !···"
"हो-हो-हो !"
हंसी ।
"क्या खयाल है, शीला ?"
"खयाल तो अच्छा है, सुंदर !···मगर एक शर्त है···"
"तुम्हारी सब शर्तें मंजूर !"
"पिक्चर सबको दिखानी पड़ेगी···"
"पिक्चर नहीं···पिक्चरें···?"
"मंजूर···"
"हुर्रे···! हुर्रे !"
"आप लोगों के लिए तो बंदे और बंदे के बाप की सारी जागीर हाजिर है, सुंदरियो ! आखिर वह कमाता किसलिए है !···चलो !"
"हीयर ! हीयर !!"
"कन्हैया को भी ले चलो आज !"
"कन्हैया को जाने दो पनघट पर !!"
"हे ! हे !"
हंसी की आवाजें, चीखें-चिल्लाहटें मोहन का पीछा करती रहीं । उसने अपनी साइकल उठाई और तीर की तरह मेन गेट से बाहर हो गया ।

देवी मंदिर के पास, एक बड़ी-सी चट्टान की आड़ में बैठे थे वे दोनों ।
"कैसे हुए परचे ?" कांता ने पूछा ।
"अच्छे ही हो गए···तुम्हारे ?" मोहन ने कहा ।
"हमारा क्या है ! हमें तो सिर्फ पास होने लायक नंबर चाहिए···"
"क्यों ?"
"हमें कौन-सी नौकरी करनी है ! चिट्ठी-पत्री लिखना-पढ़ना आ जाये, उतना ही बहुत है···"

मोहन को कांता का यह धरूपन अच्छा लगा।

फिर कुछ क्षण वे दोनों खामोश बैठे रहे। कांता के चेहरे पर अचानक उदासी उतर आयी।

"क्या हो गया ?" मोहन ने लक्ष्य किया। "अचानक ?"

"एक बात सोच रही हूं···"

"क्या ?"

"तुम्हारे साथ की इतनी आदत पड़ गयी है···अकेले वक्त कैसे कटेगा ?"

"अकेले··· मतलब ?"

"हमारी छुट्टियां हो गयी हैं। मां मुझे मामा के घर ले जा रही है। हर साल यही होता है···"

मोहन को एक झटका-सा लगा। वह खामोश रह गया। फिर झटके के प्रभाव में ही बोला, "सच कहती हो, कांता···अकेले वक्त कैसे कटेगा ?"

"जाने का मन तो नहीं है···पर मजबूरी है···" फिर कांता ने देखा, उसकी बात ने मोहन को भी उदास बना दिया है। झट सामान्य होते हुए बोली, "चलो, क्या हुआ ! —कुछ ही दिनों की तो बात है···"

"कब लौटोगी ?" मोहन ने पूछा।

"दो महीने बाद···"

"दो महीने !" मोहन ने आह भर ली।

"और कल ही चले भी जाना है···मां को भी, पता नहीं, किस बात की जल्दी पड़ी हुई है ! ···"

कांता ने फिर कुछ नहीं कहा। मोहन भी खामोश बैठा छोटे-छोटे कंकड़ उठाकर सामने फेंकता रहा।

कांता ने मोहन का अलगोजा उठाया और उसके हाथों में थमाते हुए बोली : "चलने से पहले अलगोजे की धुन तो सुना दो···कोई ऐसी धुन, जो दो महीनों तक कानों में गूंजती रहे···"

मोहन चुपचाप अलगोजा बजाने लगा। कांता खामोशी से सुनती रही।

8

कांता दूसरे ही दिन मामा के गांव चली गयी। उसका कमरा बंद हो गया। मोहन जब भी बंद दरवाजे की ओर देखता, उसे लगता जैसे उसकी खुशियों के सारे दरवाजों को बंद कर दिया गया है। किसी चीज में उसका मन न लगता—न अलगोजे में, न खेतों में, न बारादरी में।

ऐसे वक्त में उसकी डायरी ही उसकी अकेली साथिन रह गयी थी। वह अपने दिल की सारी बातें खोल-खोलकर उसे बताता रहता। तरह-तरह से अपने और कांता के नाम को जोड़-जोड़कर लिखता रहता। लेकिन तसल्ली न होती। कभी-कभी वह बारादरी में जा बैठता और वहां से ऊंची-ऊंची आवाज में वह कांता को आवाजें लगाता रहता। जब थक जाता, तो चिड़ियों, तोतों, पेड़ों और टूटी दीवारों को अपनी डायरी पढ़कर सुनाता रहता।

बाऊजी ने उसे अपने साथ काम पर लगाना चाहा। वह वहां भी थोड़ी देर रहता, फिर साइकल उठाता और सड़कें नापने चल देता। बाऊजी का गुस्सा उबाल खाने लगता। लेकिन छुट्टियां होने की वजह से ज्यादा कुछ न बोलते।

एक रात दुर्गादास जी घर पहुंचे, तो तारा ने बताया, "मोहन की बुआ की चिट्ठी आयी है।

"क्या लिखा है?" उन्होंने उदासीनता से ही पूछा।

"लिखा है—बीमार हैं," तारा ने बताया।

"अकेली रहती हैं···कितनी बार तो कह चुका हूं कि यहां आ जाएं···लेकिन वह उस घर को छोड़ना ही नहीं चाहतीं!"

"आप भी कैसी बातें करते हैं! कोई अपने घर को छोड़ सकता है? खासकर बुढ़ापे में···" तारा ने कहा, "बुढ़ापे में तो यादें ही सहारा रह जाती हैं···"

मोहन की बुआ दुर्गादास जी की सगी बहन नहीं थीं, वैसे भी उनके पति से दुर्गादास की खटपट हो गई थी। बहन बरसों पहले विधवा हो गई थी, फिर भी दुर्गादास जी की नाराजगी ज्यों की त्यों बनी हुई थी।

"क्या करना चाहिए ?"

"पता तो कर ही आना चाहिए," तारा ने कहा।

"मेरे लिए मुमकिन नहीं है जाना···नौकर भी छुट्टी ले गया है।"

"कोई न पहुंचा, तो बहन जी को बुरा लगेगा···कहेंगी, कोई देखने तक नहीं आया।"

दुर्गादास जी को एक बात सूझ गई। बोले, "ऐसा करो, अपने लाडले को भेज दो। अड्डे पर उसका जी ही नहीं लगता···जब देखो, गायब मिलता है! आवारागर्दी करता रहता है सारा दिन। उसीको भेज दो···जा के मिल आएगा।"

"ठीक है," तारा ने कहा और खाना परोसने लगी।

ऐसा क्यों होता है कि जो बरसों से अपने हैं, मन उनसे दूर-दूर भागता है और जो कुछ दिनों से मिले हैं, उनके संग के लिए तरसता रहता है ?···

बस सड़क पर दौड़ती जा रही थी। उसका रास्ता बंधा-बंधाया था। उसने बंधा-बंधाया रास्ता छोड़ा नहीं कि संकट सामने आया नहीं। लेकिन मन बंधे-बंधाए रास्तों पर कब चलता है!

बस में बैठे मोहन का मन आड़े-टेढ़े रास्तों पर दौड़ रहा था।

बाऊजी में इतना गुस्सा क्यों है ? क्यों उन्हें दूसरों की तरह हंसना-मुसकराना अच्छा नहीं लगता ? क्या इसलिए कि उन्होंने जिंदगी-भर संघर्ष किया है ? क्या जिंदगी का संघर्ष इनसान की मुसकराहटों को हमेशा के लिए छीन लेता है ?···

क्या संघर्ष आदमी को दंभी भी बना देता है ?···

क्यों कहीं भी जी नहीं लगता ?···न घर में···न बाहर ? क्यों किसीके संग के अभाव में अकेलापन अच्छा लगने लगा है ? यह कैसा विरोधाभास है ?···

बस ने झटके से एक मोड़ काटा। उस हुलारे से विचारों की कड़ियां

बिखर गई।

मोहन ने खिड़की से बाहर देखा और डायरी को बंद कर दिया। दूर, खेतों के पार एक गांव नजर आने लगा था। मोहन को अचानक लगा, इस गांव को वह पहचानता है। वह उतरने की तैयारी करने लगा।

वह एक पुराना, गिरता-ढहता मकान था—कॉटेजनुमा। बाहर लकड़ी का गेट, जिसका एक हिस्सा बारिश-धूप और बरसों के इस्तेमाल से जर्जर हो चुका था। गेट और मकान के बीच एक कच्चा रास्ता था और दोनों तरफ घास वाले जमीन के टुकड़े, जो कभी लॉन रहे होंगे। अब तो वहां की घास भी सूख-सड़ चुकी थी, पेड़-पौधों के बचने का तो सवाल ही नहीं उठता था। मकान की ऊंची, टाइलों वाली छत जगह-जगह से टूटी हुई थी और एक मुर्गा चिमनी पर बैठा किसी सिपहसालार की तरह आस-पास के इलाके का सर्वेक्षण कर रहा था। मकान के दाहिनी तरफ से मुर्गियों की कुड़-कुड़ की आवाज आ रही थी—साथ ही पंखों की फड़-फड़ाहट।

मोहन ने गेट पर लगी लकड़ी को खटखटाया और आवाज दी, "बुआ जी!"

बुआ मुर्गियों के दड़बे के पास बैठी उन्हें एक-एक करके बाहर निकाल रही थीं। वहीं से बोलीं, "कौन है?" फिर उठकर खुद भी आगे आ गईं।

बुआ के सारे बाल सफेद हो चुके थे। सलवार-कमीज, दुपट्टे प जगह-जगह मुर्गियों के पंख अटके हुए थे। अपने मोटे शीशों वाले च को नाक पर ठीक से जमाती हुई वह फिर बोलीं, "कौन है?"

"मैं हूं, बुआ जी—मोहन..." और उसने झुककर बुआ के प छू लिए।

"अरे तू है! इतना बड़ा हो गया तू!" बुआ ने हैरानी अ प्यार से कहा। "जीता रह! जीता रह! जुग-जुग जिए मेरा लाल! चल...अंदर चल..."

बुआ ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे अंदर ले जाने लगी
"मैं भी सोचूं—यह 'बुआ-बुआ' कहने वाला आज कौन आ गया!··· मुझे क्या पता था!···यहां तो कोई आता ही नहीं। मैं तो पहचान ही नहीं पाई···नामुराद आंखें बड़ी खराब हो गई हैं···ठीक से दिखाई ही नहीं देता···मोतिया उतर आया था···पार साल बनवाई थी आंखें···फिर भी···"

अंदर पहुंचकर बुआ ने उसे एक पुरानी-सी कुर्सी पर बिठा दिया। "तू बैठ। मैं तेरे लिए शिकंजबी बनाकर लाती हूं···"

"रहने दो, बुआजी···अभी प्यास नहीं···"

"नहीं रे···बड़ी गरमी है···शिकंजबी का जी न हो, तो चाय बना लाऊं?"

"नहीं, बुआ जी, अभी कुछ नहीं चाहिए। बस, पानी पिऊंगा···"

"अच्छा, पानी ही ले आती हूं···"

बुआ गयी और शिकंजबी बना लायी। साथ ही एक तश्तरी में बर्फी की टुकड़ियां। तब तक मोहन ने अपने थैले में से कुछ पैकेट निकालकर मेज पर रख दिए थे।

"ले···कुछ खाकर पानी पी ले···" बुआ बोली।

मोहन ने गिलास ले लिया।

"मां ने आपके लिए कुछ चीजें भेजी हैं—मेवियां, पापड़··· बड़ियां···"

"बड़ा मोह करती है ताराराती!···क्या जरूरत थी यह सब भेजने की! अब पूछो, भला कौन बनाएगा और कौन खाएगा?···"

मोहन चुपचाप शिकंजबी को घूंट-घूंट करके पीता रहा।

"अकेली जान···किसी तरह जी रही हूं···बची ही कितनी है!··· यह भी कट ही जाएगी किसी तरह। बीच में मलेरिया हो गया था··· सामने की पहाड़ी पर तोनी रहती है न—वही आ जाती थी। तुलसी और अदरक की चाय बना लाती थी···वही सेवा की उसने, वर्ना शरीर लोगना लिखा था, सो बच गई···" फिर बुआ एकाएक हंसने लगी। 'मेरा भी दिमाग चल गया है! क्या बातें लेके बैठ गई! तू—

सुना, घर में सब लोग राजी-खुशी तो हैं न ?"

"सब ठीक हैं, बुआ जी।" मोहन ने खाली गिलास मेज पर रख दिया। "बाऊजी खुद आना चाहते थे, लेकिन जरूरी काम आ पड़ा और वह रुक गये···"

"तू तो स्कूल जाता होगा, पढ़ने ?"

"हां, बुआ जी···कॉलिज जाता हूं···आजकल छुट्टियां हैं।"

"जीता रह ! जीता रह ! इसी बहाने तुझे देख लिया··· तू इतना-सा था, जब पिछली बार यहां आया था। तब तेरे फूफा जिंदा थे···इसी मेज के नीचे तू छिप जाता था और आवाज लगाता था — 'फूफाजी, मुझे ढूंढो !···' और वह बिना नीचे देखे एक हाथ से तुझे ऐसे उठा लेते थे, जैसे तू बिल्ली या खरगोश का बच्चा हो···"

मोहन हौले से मुसकरा दिया। उसके भीतर इस बात से कहीं गुदगुदी होने लगी थी।

"वह तुझे मेज पर खड़ा कर देते थे और थाली बजाते थे···थाली बजने के साथ तू नाचता था···फिर कहता था —'फूफाजी, पैसे !···' " बुआ कहीं अतीत में खो गयी थीं। "तब की बात ही और थी।" उन्होंने एक ठंडी आह भर ली। "तुझे तो यह सब याद ही नहीं होगा···जाने क्यों दुर्गा इनसे नाराज हो गया···उससे पूछो, नाराजगी से कहीं भाई-बहन के रिश्ते भी टूट जाते हैं ? इनके मरने पर भी नहीं आया···तारा न होती, तो दुर्गा की जिंदगी पता नहीं क्या होती ! तेरी मां बड़ी हुनर-वाली है। दुर्गा की जिंदगी बना दी उसने ! लेकिन दुर्गा उसकी कदर नहीं जानता···अब भी गुस्सा करता है ?"

मोहन ने सवाल का जवाब नहीं दिया, बल्कि बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए बोला, "आपका घर तो बिलकुल टूट-फूट गया है, बुआजी··· पर कोई बात नहीं···मैं ठीक कर दूंगा···"

खाना खा लेने के बाद बुआ मोहन को अपना दूसरा घर भी दिखाने ले गयीं। पास ही था। पिछवाड़े से सटा हुआ। छोटा था, लेकिन खूबसूरत था। "तेरे फूफा को बड़ा प्यार था इस घर से। यहां वह अपने सरकारी

अक्सर दोस्तों को लाया करते थे। रात देर तक यहीं लोग खाते-पीते रहते थे। उनकी हंसी की आवाजें गूंजती रहती थीं…"

बुआ खामोश हो गयी। मोहन को लगा जैसे बुआ अचानक उन खामोश हो चुकी आवाजों को फिर से सुनने लगी हैं।

"सब खत्म हो गया…" बुआ ने एक लंबी ठंडी आह भरकर कहा, "वक्त कितनी जल्दी बीत जाता है! तेरे फूफा को गुजरे दस साल हो गए—फिर भी लगता है, अभी कल की बात है…"

मोहन को झटका-सा लगा। बुआ कितनी अकेली थीं। एक ही लड़की हुई थी उनके, ब्याह के बाद वह अपने पति के साथ सिंगापुर जा बसी थी।

'एक काम करेगा, बेटे?" बुआ ने पूछा।

"बोलो, बुआ जी!"

"तू पढ़-लिख ले…फिर शादी करके इसी घर में आकर रहना…मैं मर जाऊंगी, तो कौन रहेगा यहां?"

मोहन हंस दिया। "कैसी बातें करती हो, बुआजी! अभी तो आप बहुत बरस जिएंगी…"

"न बेटा…ऐसी बददुआ मत दे! अब तो एक-एक दिन पहाड़ जैसा लगता है" अब तो बुलावा आ ही जाए, तो अच्छा…"

मोहन खामोश रह गया।

बाकी बचे दिन में मोहन ने वह बड़ी-सी मेज ठीक कर डाली, जिसपर वह बचपन में नाचा करता था।

रात को बड़ी गहरी नींद आयी। दूसरे दिन जागा, तो उसे खुद ताज्जुब हो रहा था कि वह इतनी गहरी नींद कैसे सो गया!

उसने खिड़की से बाहर देखा—हलका-हलका उजाला फैल रहा था। मीठी-मीठी ठंडी हवा अंदर आ रही थी। दूर घाटी से पशुओं की आवाजें, घंटियों की टुनटुन, किसीका ऊंचे स्वर में गाना…सब कुछ वातावरण में तिरता हुआ-सा इधर आ रहा था।

मोहन एकदम तरो-ताजा हो उठा।

हाथ-मुंह धो और एक कप चाय पीकर मोहन कमरे की टूटी हुई खिड़की की मरम्मत करने में जुट गया। दो-तीन घंटों में ही उसने खिड़की ठीक कर डाली।

नहा-धोकर उसने नाश्ता किया और फिर अपना अलगोजा उठाकर घूमने निकल गया।

खुला-खुला दिन···नीलमणि-सा उज्ज्वल आकाश···इंद्रधनुषी रंग···पसीने को दवा देने वाली हलकी ठंडी हवा—मोहन को लगा, उसने किसी नई दुनिया में जन्म ले लिया है।

एक जगह उसे एक छोटा-सा तालाब दिखाई दिया। वह उसके पास जाकर खड़ा हो गया। दूर-दूर तक कोई नहीं था। न कोई आदमी, न कोई जानवर। सिर्फ कुछ पंछी थे, इधर-उधर फुदकते हुए। वह तालाब के किनारे की बड़ी-सी चट्टान पर बैठ गया।

उस एकान्त और खूबसूरत माहौल में कांता की याद आ गयी। मोहन को एक झटका-सा लगा। फिर उसका मन उदासी में डूब गया। कांता उसके साथ होती, तो कितना अच्छा होता! यह दुनिया और भी खूबसूरत बन जाती।

कांता की याद में डूबे-डूबे ही वह तन्मय होकर अलगोजा बजाने लगा। उसे लगा, जैसे कांता उसके पास ही चट्टान पर बैठी है, उसके कंधे से अपना सिर टिकाये।

कितनी देर हो गयी, मोहन को पता नहीं चला।

अचानक अलगोजे पर उसकी अंगुलियां रुक गयीं। पीछे से आवाज आई थी, "अरे ओ मुरली वाले!"

मोहन ने घूमकर देखा—बारह-तेरह बरस की एक लड़की कोई दस गज दूर खड़ी थी। इकहरे बदन की, अल्हड़, तेज, चुभ जाने वाली आंखों वाली, थोड़ी-सी ऊपर उठी हुई नाक, सामने वाले पर प्रश्न-सा उछालती हुई, पतले-पतले ओठ। ऊपर का ओठ थोड़ा-सा उठा हुआ।

एकाएक वह हंसने लगी। खनकती हुई हंसी। उस माहौल को झंकृत कर देने वाली।

मोहन ने अपनी आंखें घुमा लीं। अलगोजा बजाने के लिए उसकी

अंगुलियां एक बार फिर छिद्रों पर जा टिकीं। लेकिन स्वर निकलने से पहले ही उस लड़की ने फिर आवाज दी।

"अरे ओ! मैं तुम्हींसे कह रही हूं!"

मोहन ने फिर घूमकर देखा। लड़की थोड़ा-सा और पास आ गई थी।

"तुम्हारी गउएं कहां हैं?" वह बोली।

मोहन कोई जवाब देने के बजाय उसे घूरता रहा।

"अरे, मुंह में जबान नहीं है क्या? गूंगे हो!"

मोहन फिर भी उसे घूरता रहा।

"बहरे भी हो!"

मोहन धीरे से मुसकरा दिया।

लड़की ने चारों तरफ ऐसे देखा, जैसे वह मोहन की गउओं को तलाश रही हो। फिर जरा-सा और नजदीक आकर बोली, "ओ···तो गउएं नहीं चराते—मछली पकड़ते हो! पर, मुरलीवाले···तुम्हारी तान सुनकर तो मछलियों को नींद आ गई होगी···ऐसे नहीं फंसेंगी वो—हां!"

अब तक मोहन चिढ़ गया था। जोर से डांट के-से स्वर में बोला, "चल भाग!"

लड़की कमर पर हाथ रखकर खड़ी हो गई। "क्यों! गांव तुम्हारे बाबा का है!"

"जाती है या! · "

लड़की खिलखिलाई। फिर भागने लगी। भागते-भागते वह रुकी, उसने नाक ऊपर कर जीभ निकाली और फिर खिलखिलाती हुई भागती चली गई।

मोहन वहां और नहीं बैठ पाया।

वह घर पहुंचा, तो हैरान रह गया। वही लड़की बरामदे में खड़ी बुआ से बात कर रही थी और हंसते-हंसते दुहरी हुई जा रही थी। दूधवाली डोलची उसके हाथ में थी।

"बस, मजा ही आ गया, मौसी !" वह कह रही थी। "वह तो बुद्धुओं की तरह देखता ही रह गया और मैं मुंह चिढ़ाकर भाग आई।" वह फिर हंसने लगी।

"अरी कमबख्त ! डोलची तो दे ! दूध कहीं गिर न जाए !" बुआ ने कहा। "तू किसी दिन बुरी तरह पिटेगी ! देख लेना, हां···"

बुआ दूध की डोलची लेकर अंदर चली गईं।

लड़की उछलती हुई दरवाजे की तरफ आने लगी। मोहन दरवाजे पर ही अटका रह गया था।

लड़की दरवाजे पर पहुंची। "अरे-अरे ! तुम यहां क्या लेने आ गए !" वह बोली। "मेरी तो मौसी है। ज्यादा गड़बड़ की तो शिकायत कर दूंगी—हां !···" मोहन न तो हटा और न ही कुछ बोला, तो वह फिर चहकी। "खड़े-खड़े घूर क्या रहे हो ! चलो, रास्ता छोड़ो, मुझे देर हो रही है !···" इसके साथ ही उसने बुआ को हांक लगाई, "मौसी !"

उसने मोहन को यों ही परे हटाने की कोशिश की और उसके पास से फिसलती-सी निकल गई।

उसकी खनकती हुई हंसी बहुत देर तक फिजा में गूंजती रही।

मोहन मंत्रमुग्ध-सा खड़ा था। बुआ बाहर आयीं। मोहन ने अपने कदम दरवाजे के अन्दर बढ़ाये।

"क्या हुआ ?" बुआ ने पूछा।

"यह मिर्च कौन थी, बुआ जी ?"

"मिर्च ! कौन ?··· वह तोशी··· यही तो, बेटा···यही तो बीमारी में मेरी सेवा करती रही···बातूनी बहुत है···बाप नहीं है बेचारी के !···"

तोशी बहुत दूर चली गयी थी, लेकिन मोहन को लग रहा था जैसे उसकी हंसी की खनक अब भी हवा में गूंज रही हो। उसे कांता की याद बेतरह सताने लगी।

मोहन को बुआ के घर आये चार दिन हो चुके थे। इस बीच उसने घर की हालत काफी सुधार दी थी और अब वह वापसी की तैयारी कर रहा था।

बुआ उदास हो गई।

"मेरा मन नहीं भरा···कुछ दिन तो और रहता···"

"रह तो जाता, बुआ जी, पर कालेज खुलने वाला है···"

"अच्छा, जैसी तेरी मर्जी···" बुआ ने अपने आंचल की कन्नी से दस रुपये का एक मुड़ा-तुड़ा नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ा दिया। "यह रख ले···"

"इसकी क्या जरूरत है, बुआ जी?"

"घर में और कुछ है नहीं देने को···शहर अब जा नहीं पाती···" बुआ ने कहा। "अच्छा, मोहन···तू शादी करके रहेगा न यहां?—ये दो मकान हैं···तू जिसे चाहे, ले ले···मेरे बाद तो इन्हें देखने वाला भी कोई नहीं होगा···बोल, आयेगा न यहां रहने?"

"अभी मेरी उम्र ही क्या है, बुआ जी?···"

"बरस बीतते क्या देर लगती है···"

मोहन ने झुककर बुआ के पांव छू लिये। "अच्छा, बुआ जी···"

बुआ की आंखें नम हो गयीं। "जुग-जुग जीओ···बहुत नाम पैदा करो···"

मोहन ने अपना झोला उठा लिया।

बुआ उसके साथ-साथ गेट तक आ गई।

"दुर्गा और तारावती को मेरा प्यार देना···" वह भरे हुए स्वर में बोली, "दुर्गा से कहना, वह नहीं आया तो कोई बात नहीं···उसने तुम्हें भेज दिया, मुझे मेरा भाई मिल गया···"

मोहन ने बुआ के चेहरे की ओर देखा। बुआ ने आंचल से अपनी आंखें पोंछ लीं।

बुआ तब तक दरवाजे पर खड़ी रहीं, जब तक मोहन उनकी आंखों से ओझल नहीं हो गया।

तोशी रास्ते में ही मिल गई।

"अरे-अरे, बुद्धूराम! कहां चल दिए?" वह हैरानी से बोली।

"अपने घर।"

"इतनी जल्दी ! फिर कब आओगे ?"

"क्या पता !"

तोशी की समझ में नहीं आया, वह और क्या कहे। वह खामोश खड़ी रह गई।

मोहन अपना बैग कंधे पर डाले आगे निकल गया।

तोशी थोड़ी देर तो खड़ी रही, फिर भागने लगी।

बुआ के घर पहुंची, तो वह हांफ रही थी।

"मौसी ! वह चला क्यों गया ?" वह बोली। "कुछ दिन और नहीं रुक सकता था !"

"नहीं, बेटी…उसकी पढ़ाई में हर्ज होता…"

तोशी का मुंह उतर गया।

9

मोहन जब तक घर वापस पहुंचा, वह बहुत बेचैन हो चुका था। लेकिन घर पहुंचने के बाद बेचैनी और भी बढ़ गई थी। बुआ के गांव से वह इसलिए जल्दी भाग आया था, क्योंकि कांता वहां नहीं थी, लेकिन वह अभी यहां भी नहीं थी।

मां को हैरानी हुई थी। "इतनी जल्दी कैसे चले आये ?' उसने पूछा था।

मोहन ने रूखा-सा उत्तर दे दिया था, "क्या करता ! बुआं जी ठीक हैं। मलेरिया हुआ था…नजर बहुत कमजोर हो गई है उनकी… आप सबके लिए प्यार भेजा है…"

"और कोई बात ?"

"बस, इतना ही…"

मां ने उसका उड़ा-उड़ा रंग देखकर कहा था, "तुझे हुआ क्या है, मोहन ? तबियत तो ठीक है न तेरी ?"

"हां, मां···बिल्कुल ठीक है···" उसने कह तो दिया था, लेकिन वही जानता था, वह कितना बेचैन है, कितना व्याकुल है। लेकिन बेचैनी और व्याकुलता ऐसी थी, जिसे किसीके साथ बांटा नहीं जा सकता था। इस-लिए एक बार फिर उसकी भटकन बढ़ गई थी। नदी-तट, बारादरी और उसके चारों ओर फैला मनारो का बाग, खेत, जंगल, सड़कें, धूप···उसे चैन कहीं भी नहीं मिल पाता था।

रात होती, तो वह अपने कमरे में बंद हो जाता। डायरी पढ़ता रहता। पुरानी बातें और भी ज्यादा कचोट जातीं···और बेध्यानी में बैठे-बैठे वह तरह-तरह से अपने नाम को लिखता रहता—मोहन कुमार··· मोहनलाल···मोहन राय···कुमार मोहन ··मोहन कांता···कांता मोहन

उसे एक-एक दिन युगों जैसा लंबा और यातनादायी प्रतीत हो रहा था···

फिर तपती हुई जमीन पर जैसे एकाएक ठंडी बौछार पड़ गई।

मोहन अलसाया-सा अपने कमरे में लेटा था कि उसे कहीं दरवाजा खुलने की आवाज सुनायी दी। उसका दिल धड़क उठा। उछलकर वह कमरे के दरवाजे के पास आ गया। सामने का दरवाजा खुल रहा था। दूसरे ही क्षण कांता सामने आ गई।

मोहन का पूरा शरीर झनझना उठा। एक साथ कई स्फूर्तिदायक लहरें उसके अंग-अंग को झंकृत कर गईं।

फिर दोनों एक-दूसरे की ओर ऐसे भागे, जैसे हवा के दो बगूलों की तरह एक-दूसरे में समा जाएंगे।

लेकिन बीच की मुंडेर बाधा बन गई।

कांता खुद भी अचानक झिझककर दो फुट दूर ही रुक गई थी।

कुछ पलों तक वे खामोश खड़े रहे, जैसे विश्वास न हो रहा हो कि वे एक-दूसरे के पास हैं।

फिर कांता ने ही उस स्तब्धता को तोड़ा :

"कैसे हो ?"

"अच्छा हूं···तुम ?"

"हूं·· मैं भी अच्छी हूं।"

"जी लगा रहा ?"

"ऊंहू···तुम्हारा ?"

"कैसे लग सकता था ?···" फिर वह बात को जारी रखने के लिए पय ढूंढ़ने लगा।

उसने कांता को देखा। उसका चेहरा पहले से कुछ निखर आया था। ारीर पहले से ज्यादा भरा-भरा लग रहा था।

सहसा वह बोला, "तुम्हारी सेहत तो बहुत अच्छी हो गई है!"

कांता सकुचा गई।

"क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं···" लेकिन वह सिर झुकाए रही।

एकाएक मोहन ने अपना हाथ उसकी बांह पर रख दिया। कांता के बदन में सिहरन दौड़ गई। उसने अपना हाथ खींच लिया।

"क्या हुआ ?" उसने फिर वही सवाल दुहराया।

कांता ने सिर्फ उसकी तरफ देखा, बोली कुछ नहीं।

मोहन हैरान था। कांता में इतनी चुप्पी, इतनी गंभीरता एकाएक कहां से आ गई ? क्यों आ गई ?

"देवी-मंदिर चलोगी ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"अभी जाने की मनाही है···"

मोहन फिर भी नहीं समझा।

"कल ?"

"कल भी नहीं···परसों···"

"परसों ही क्यों ?"

"बुद्धू हो !" कांता ने आंखें उठाकर सिर झटक दिया। फिर किसी समझदार लड़की की तरह बोली, "परसों सिर नहाऊंगी···"

मोहन बेवकूफों की तरह हंसने लगा।

कांता भाग गई।

तीसरे दिन सुबह वे देवी-मंदिर में मिले।

कांता ग्रोसबीगी चंपा की कली-सी लग रही थी—उसके पास पूजा की छोटी-सी डलिया थी। धूप, अगरबत्ती, फूल वह उसमें लाई थी।

नदी का किनारा। मंदिर की छांव, बरगद, धीरे-धीरे बहता पानी। कुछ पंछी—छिछले पानी में किल्लोल करते हुए।

कांता और मोहन एक बड़े-से पत्थर की ओट में बैठ गए। पूजा की डलिया को कांता ने अपनी गोद में रख लिया।

कांता ने शायद पहली बार साड़ी पहनी थी और वह बड़ी-बड़ी लग रही थी।

"अब बताओ," मोहन ने कहा, "मामा के घर में क्या करती रहीं?"

"करना क्या था!" कांता ने जवाब दिया। "लगता था, जेल में पड़ी हूं···लकीरें खींचती रहती थी—कब छुट्टियां खत्म हों और कब···"

"क्या सबके साथ ऐसा ही होता है?" मोहन ने जैसे यह सवाल अपने-आपसे ही किया।

"होता ही होगा···" कांता की आवाज में फिर गांभीर्य उभर आया था। "न होता तो क्या बचता दुनिया में?"

"जानती हो, कांता, मुझे क्या लगता है?"

"क्या?" कांता ने उसके चेहरे में झांका।

"तुम्हारा इंतजार न होता, तो इस बार छुट्टियां न कटतीं!"

"पहले कैसे कट जाती थीं?"

"पहले की बात और थी···" इस बार मोहन ने बड़े प्यार से कांता की आंखों में देखा।

"नहीं, मोहन," कांता पंछियों की ओर देखने लगी। "छुट्टियां तो बहुत छोटी चीज हैं—लोग जिंदगी काट लेते हैं···"

एकाएक पंखों की फड़फड़ाहट हुई—पंछी आसमान में उड़ गये। मोहन का ध्यान उनकी उड़ान में खो गया। पंछियों ने पहले एक चक्कर काटा, फिर दूर उड़ते चले गये।

कांता मोहन की निगाह का पीछा कर रही थी।

मोहन की आंखों में निराशा की झलक आ गई। पंछी लौट

नहीं आये थे।

"सुनो, मोहन।" कांता बोली। "कुछ चीजें जिंदगी में एक ही बार होती हैं..."

"और जब वे हो जाती हैं, तो पूरी जिंदगी की दिशा ही बदल जाती है..." मोहन ने जैसे उसकी बात को पूरा कर दिया। "अच्छा सुनो..."

लेकिन उसकी बात उसके मुंह में ही रह गई। कांता ने एकाएक अपना ओंठ काट लिया था और वह कुछ घबरायी हुई नजर आ रही थी।

"क्या हुआ ?" मोहन ने पूछा।

"मुसीबत!..." कांता ने मंदिर की सीढ़ियों की ओर देखते हुए कहा, "ऑल इंडिया रेडियो..."

मोहन ने देखा—दूर एक बेहद बूढ़ा आदमी खड़ा था। आंखों पर मोटा-सा चश्मा लगाये, वह उन दोनों की तरफ ही देख रहा था।

"इतनी दूर से वह पहचान तो नहीं पायेगा...लेकिन पूरे शहर में ढिंढोरा जरूर पीट देगा," कहते हुए कांता उठ खड़ी हुई। "अच्छा, फिर मिलेंगे..." वह तेजी से सीढ़ियां चढ़ने लगी।

मोहन को कुछ समझ नहीं आया। उसे क्या करना चाहिए। सामने नदी की पतली-सी छिछले पानी की धार थी। वह उसी तरफ कूद गया और पानी को चीरता भाग गया।

उसने पीछे घूमकर भी नहीं देखा।

कांता बुड्ढे के पास से निकल रही थी, तो उसने बड़े प्यार से पूछ लिया, "पूजा के लिए आयी हो ?"

"हां, बाबा..."

वह रुकी नहीं, आगे बढ़ गई।

बुड्ढे की आंखें बेहद कमजोर थीं। मगर अपने मोटे चश्मे को ठीक से नाक पर जमाते हुए वह उस युवक को देखने की कोशिश कर रहा था, जो नदी को पार करके भागता चला जा रहा था।

मोहन भाग तो गया, लेकिन 'ऑल इंडिया रेडियो' ने अपना काम कर

दिया। दोपहर तक जाने किस-किसकी जबान पर कांता का नाम आ चुका था। अब रात हो चुकी थी और मोहन अपने कमरे में बैठे कांप रहा था।

पर वह तभी लौटा था, जब उसके कपड़े सूख गये थे। मां ने पूछा भी था कि उसने पेट कैसे कीचड़ में सान ली, तो उसने झूठ बोल दिया कि सिंघाड़े तोड़ने के लिए तालाब में घुस गया था। लेकिन अब सच किसी खूंखार जानवर की तरह उसके सामने था।

कांता की शामत आ गई थी।

मोहन को उस घर से आने वाली सारी आवाजें सुनाई दे रही थीं और जाहिर था कांता को दुलारा तो नहीं ही जा रहा था।

"अब भी बता दे, कौन था तेरे साथ!" कांता के पिता पूछ रहे थे। उनका चेहरा तमतमाया हुआ था। मूंछों के बाल बिखरकर कांप रहे थे। और आंखें आग बरसा रही थीं। "बता दे वरना खाल खींच लूंगा!"

कांता सिसक रही थी। "कितनी बार कहूं, बाऊजी···कोई नहीं था, मैं अकेली गई थी देवी-मंदिर···"

"बकवास करती है, हरामजादी!" पिता ने उसकी चुटिया पकड़ ली थी, 'सारा शहर झूठ बोल रहा है! अब भी बता दे, नदी-पार का कौन-सा भंगी-चमार था तेरे साथ, जिसके साथ मुंह काला करवा रही थी!··· खुद ही बता दे, तो छूट जायेगी, वरना खाल खींचकर भूसा भरवा दूंगा!···"

इस बार कांता सिर्फ रो दी थी, लेकिन उसे कहीं यह सुनकर तसल्ली भी हुई थी कि पिता का शक कहीं और था!

लेकिन मोहन पसीने-पसीने हो रहा था। कांता के पिता का एक-एक शब्द एक-एक बूंद पिघला हुआ सीसा उसके कानों में उंडेलता जा रहा था और उसका चेहरा पीला पड़ता जा रहा था।

एक जोरदार थप्पड़ पड़ने की आवाज आयी, तो वह कांप गया। कांता की चीख और उसके साथ ही उठे क्रंदन से तो उसकी रूह तक कांप गई। कांता के बदन पर पड़ते एक-एक आघात को वह अपनी पीठ पर घाव की तरह महसूस कर रहा था।

चंदरसेन ने एक बार फिर कांता की चुटिया पकड़ ली थी, उन्होंने बिल्कुल वैसे ही उसे मरोड़ दिया, जैसे गांव के शरारती बच्चे गाय-बैल की दुम को मरोड़ देते हैं। कांता के गाल उखड़ने-उखड़ने को हो आये। पूरा सर दर्द की भयंकर गांठ बनकर रह गया।

पिता ने उसकी चुटिया मरोड़कर उसे जोर से धक्का दे दिया। कांता जाकर दीवार से टकरायी और वह "मां ! मां ! ···बाऊजी ! ···" चीखकर रह गई।

कांता की मां कमरे में आने से भी डर रही थी।

चंदरसेन ने दोनों हाथों से पकड़कर कांता को खींच लिया। "नामुराद ! इसी दिन के लिए पैदा हुई थी तू !" उन्होंने गरजते हुए कहा और फिर खींचकर कांता को फर्श पर पटक दिया। अब पास ही पड़ी खटिया को उन्होंने खींचा, कांता की दोनों हथेलियों पर उसके पाये टिकाये और खुद खटिया पर बैठ गए, "देखता हूं, कब तक तू नहीं बताती !" उन्होंने कहा, लेकिन कांता एक चीख मारकर बेहोश हो गई थी।

उसके साथ ही उस घर से आवाजें आनी बन्द हो गयी थीं, यह खामोशी मोहन को और भी ज्यादा परेशान कर गई, अब तक तो पता चल रहा था कि उस घर में क्या हो रहा है, यह शांति तो और भी बेचैनी पैदा कर रही थी।

इस खामोशी और रहस्य को सीढ़ियों से आती पदचाप ने भंग कर दिया, मोहन पहचान गया, यह आहट बाऊजी के ही कदमों की थी। एकाएक वह घबरा गया, उसने जल्दी से अपना पसीने से सराबोर चेहरा साफ किया—आस्तीन से ही—एक किताब उठायी और उसे ऐसे पढ़ने लगा, जैसे दीन-दुनिया की कोई खबर ही न हो।

दुर्गादास जी आकर दरवाजे में खड़े हो गए। उनके चेहरे पर संजीदगी किसी रोगन की तरह पुती हुई थी। मोहन ने उनकी ओर नहीं देखा।

"क्या बात है ?" अंदर आते हुए बोले, "तुम्हें सुनाई देना भी बन्द हो गया है ? कितनी आवाजें दीं···"

"मैं पढ़ रहा था, बाऊजी···"मोहन ने किसी तरह सफाई दी।

"खाना नहीं खाया है ?"

"नहीं···मेरा पेट दुख रहा है···"

"क्यों ? कुछ अगड़म-बगडम खा लिया होगा !"

"हां—मूली खा ली थी···"

"चुराकर खायी होगी खेत से !"

"नहीं, खरीदकर खायी थी···"

"सच कह रहा है या कोई और बात है ?" बाऊजी की आंखें उसकी खाल में उतर जाना चाहती थीं।

मोहन एक बार फिर पसीने-पसीने होने लगा था, किसी तरह बोला, "सच कह रहा हूं, बाऊजी !"

"पसीने तो ऐसे छूट रहे हैं, जैसे कोई बहुत बड़ी चोरी की हो !"

"नहीं बाऊजी···तबियत ठीक नहीं है···"

"तो नीचे जाकर कुछ चूरन-वूरन ले ले···" फिर बाऊजी के स्वर में रहस्य घुल गया। "तुझे पता है, क्या हुआ ?"

"कहां ?"

"चंदरसेन के घर में···"

"मुझे कैसे मालूम होता !"

"नहीं, तुम रोड इंस्पेक्टरी करते रहते हो, सोचा, शायद सुना हो !···"

"नहीं बाऊजी···"

दुर्गादास जी बैठे नहीं। उसकी मेज के पास ही खड़े-खड़े बातें करते रहे। फिर जाने क्या सूझी कि चलते-चलते बोले, "मुझसे डर लगता हो, तो मां को बता दो···मुझे लगता है, यह करतूत तुम्हारी ही हो सकती है···तुम्हारी मां को बड़ी फिकर रहती है तुम्हारी···" एक बार उन्होंने घूमकर मोहन के चेहरे को देखा और फिर बाहर निकल गए।

जब वह सीढ़ियां उतरे, तब तक मोहन की आंखों से आंसू बहकर उसके चेहरे को भिगोने लगे थे।

इधर-उधर धक्के खाएगा, तो होश ठिकाने आ जाएंगे—लौट आएगा फिर अपने-आप !"

"नहीं···वह नहीं आएगा। तुम उसे नहीं जानते, दब्बू जरूर है, लेकिन तुमसे कम जिद्दी नहीं है···"

"ठीक है, यह भी पता चल जाएगा—देखते हैं, कितना जिद्दी है···"

दुर्गादास जी बिना कुछ खाए-पिए ही काम पर चले गए।

तारा रोती ही रह गई।

दुर्गादास जी उस दिन सारा समय झींकते रहे। बात-बात पर उनका पारा गरम हो जाता। रक्खे को उन्होंने चुंगी पर भेजा था। चुंगी वैसे भी काफी दूर थी—बस-अड्डे से करीब एक मील। रक्खे के आने तक दुर्गादास जी दो-तीन लोगों से झगड़ चुके थे।

रक्खा आया, तो वह उसपर भी बरसने लगे, "तुझे वक्त का कोई ध्यान भी रहता है ! जब देखो. तब गायब ! दस मिनट के काम में दो घंटे लगा के आता है ! कामचोर ! कहां था सुबह से अब तक ?"

"आप तो खामखाह मुझपर बिगड़ रहे हैं, ला' जी !" नौकर बेचारगी से बोला।

"चुप ! जबान लड़ाता है !"

"मेरी क्या मजाल है, ला' जी ! वहां इतनी लंबी लाइन लगी हुई थी ! दो घंटों में नंबर आया। कोई एक्सीडेंट हो गया था···यकीन न हो तो मोहन जी से पूछ लो···वह भी वहीं थे चुंगी पर···"

दुर्गादास जी चौंके। "वह वहां क्या कर रहा था ?" उन्होंने जल्दी से पूछा।

"वह तो पता नहीं जी !"

"पूछ नहीं सकता था, नालायक ?"

"लाइन छोड़कर कैसे जाता, जी ?"

दुर्गादास जी ने नौकर के लिए और दस काम सोचकर रखे हुए थे। लेकिन सब कुछ छोड़-छाड़कर वह चुंगी की ओर भागे। रिक्शा किया।

रिक्शा वाले पर बिगड़े भी कि वह इतना धीरे क्यों चल रहा है, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। मोहन चुंगी पर नहीं मिला।

चुंगी के आसपास तीन दिशाओं में सड़कें जाती थीं। मोहन ने बस पकड़ी होगी, इतना तो वह समझ गए, लेकिन किस दिशा की बस पकड़ी होगी, यह कौन बता सकता था ?

निराश होकर वह लौट आए।

अपने घर से दूर मोहन उस नये शहर, दिल्ली, में भटक रहा था। घर से वह सिर्फ पंद्रह रुपये की चिल्लर लेकर चला गया था। न कोई कपड़ा, न किताब न और कुछ। दो दिन उसे यहां आए हो चुके थे और दो रातें उसने स्टेशन के वेटिंग रूम में गुजार दी थीं। सुबह उसने चाय की प्याली पी थी और अब दोपहर होने को थी। उसकी जेब खाली थी।

जगह-जगह वह काम मांगता रहा था, लेकिन काम कहीं नहीं था।

जब भी कोई होटल या ढाबा उसके सामने आता उसके पांव खुद-बखुद रुक जाते, लेकिन खाली जेब उसका मुंह चिढ़ा देती और वह फिर आगे बढ़ जाता।

आखिर वह मोरी गेट के एक गैराज के सामने जाकर रुक गया। गैराज के ऊपर बोर्ड लगा था: "उस्ताद जी का गैराज"। जगह की हालत अच्छी नहीं लग रही थी। फिर भी काम तो हो ही रहा था।

मोहन कुछ क्षण झिझकता-सोचता रहा। फिर भी वह आगे बढ़ गया।

उस्ताद जी एक कार के नीचे लेटे ठोका-ठाकी कर रहे थे। कुछ लड़के एक कार धो रहे थे।

मोहन खड़ा रहा।

दो-तीन मिनट के बाद उस्ताद जी बाहर आए।

मोहन वहीं खड़ा रहा।

उस्ताद जी की उम्र चालीस और पचास के बीच कहीं भी हो सकती थी। उनका इकहरा शरीर सही अंदाज नहीं लगने देता था। उनके चेहरे पर ही जैसे लिखा हुआ था कि मस्ती और गुस्सा उस व्यक्तित्व का अंग

हो ही नहीं सकता। आंखों में अद्भुत सरलता। कमीज-पाजामा ग्रीज और तेल के धब्बों से भरा हुआ।

वह मोहन को सिर से पैर तक देख गए। फिर बड़े प्यार से बोले, "काम चाहिए ?"

मोहन को समझ नहीं आया, वह क्या कहे। जो बात स्पष्ट थी, वह तो उस्ताद जी ने कह ही दी थी।

उस्ताद जी ने चीथड़े से अपने हाथ साफ किए। फिर उन्हें साबुन से धोने लगे। मोहन वहीं खड़ा रहा।

वह हाथ धोकर उसके पास चले आए। फिर लकड़ी और टीन के बने एक छोटे-से कैबिन की ओर बढ़ते हुए बोले, "आओ···"

वह उसे अंदर ले गए। कमरे में एक छोटी-सी मेज पड़ी थी, दो कुर्सियां, एक स्टूल। उस्ताद जी मेज के पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गए।

"देखो बेटे···" वह बोले, "मेरा तो बड़ा छोटा-सा गैराज है। आजकल उतना काम नहीं आता, जितने काम मांगने वाले आते हैं। और काम भी सबको चाहिए उस्ताद ज्ञानचंद के गैराज में···देख रहे हो कितने लड़के हैं मेरे पास।···आधे लड़कों को तनख्वाह नहीं दे पाता हूं ···फिर भी काम करते रहते हैं···जब कोई काम सीख जाता है, तो कहीं और चला जाता है···"

तभी एक महिला अंदर आ गई। उनके हाथ में खाने का डिब्बा था। वह डिब्बे को स्टूल पर रखकर खोलने लगीं।

"आ गईं भागवान···" उस्तादजी ने महिला से कहा। "लाओ, खाना डाल दो···बाहर लड़कों ने खाना शुरू कर दिया ?"

"हां, जी," महिला बोली।

"अब बताओ·· तुम्हीं बताओ···" उस्ताद जी ने मोहन से कहा। "नाम क्या है तुम्हारा ?"

"जी···मोहन···" मोहन को अपनी आवाज अजनबी-सी लगी।

"किसी अच्छे घर के लगते हो···भागकर आए हो ?'।

मोहन ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा।

तभी उस्ताद जी की पत्नी ने खाने से भरी प्लेट उसके सामने रख

दी। उसके सिर पर हाथ रखते हुए प्यार से बोली, "खाना खा लो। भूख लगी होगी।"

मोहन ने उसकी आँखों की ओर देखा। उसे माँ की याद आ गई। गला भर आया।

"खा लो, बरखुरदार।" उस्ताद जी ने अपनी प्लेट में से कौर तोड़ते हुए कहा। "काम हो या न हो, भूख तो लगने से नहीं रहती।"

मोहन बैठा रहा। उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी कि वह कौर तोड़कर मुँह में डाल ले। उसे लग रहा था, खाना गले से नीचे नहीं उतरेगा। भर्राए हुए कंठ से बोला, "आप मुझे रख लीजिए, उस्ताद जी..."

उस्ताद जी खाते-खाते सोचने लगे। फिर बोले, "तुम खाना तो खा लो। अभी सोच लेते हैं कुछ..."

मोहन ने झिझकते हुए कौर तोड़ा।

फिर खाना खामोशी से खाता रहा।

उस्ताद जी ने खाना खत्म किया। पानी पिया। प्लेट में ही हाथ धोए और मोहन को देखने लगे। उसका आधा खाना अभी बाकी था।

"सोचते क्या हो?" उस्ताद जी की पत्नी उनसे बोली। "रख लो न बेचारे को..."

उस्ताद जी के लिए फैसला आसान हो गया।

"ठीक है, बेटे...लेकिन तनख्वाह देने की मेरी हैसियत नहीं है। खाना-दाना तुम्हें मिल जाया करेगा—घर के बच्चों की तरह..."

मोहन का जी हल्का हो गया।

उस्ताद जी की पत्नी ने एक बार फिर उसके सिर पर हाथ रख दिया। बोली, "अपना बच्चा जैसा ही लगता है न?"

मोहन की आँखों में प्रश्न उभर आया।

"मेरा लड़का है" उस्ताद जी ने बताया। "कई साल हुए, वह भी भाग गया था। बम्बई में है। फिल्मी वाला कोई मुहल्ला है, वहाँ—वहीं रहता है। टैक्सी चलाता है। ऐसा सुना है, गोरेगाँव नाम है... एक ही कमरे में आठ-दस लड़के रहते हैं।" फिर उन्होंने ठंडी आह भर दी। "चलो, खुश रहे, जहाँ भी है..."

मोहन ने खाना खत्म कर दिया।

11

तारावंती ने रो-रोकर अपनी आंखों को निस्तेज बना लिया था। एक ही बेटा। वह भी लाड़ला। जब भी उसकी याद आती, उसकी आंखें अपने-आप भीग जातीं।

दुर्गादास जी ने ज्यादा बात करना ही छोड़ दिया था। उन्हें तो जैसे घर से सिर्फ इतना-सा ही वास्ता रह गया था कि खाना खाना है और सो रहना है। लेकिन देखने वाले समझते थे, उन्हें अंदर ही अंदर कोई घुन खाए जा रहा है। वह मोहन के बारे में किसीसे कोई बात न करते। लेकिन जैसे-जैसे वक्त बीतता जा रहा था, उन्हें यकीन होता जा रहा था, तारा ठीक कहती थी। उनका बेटा उनसे कम जिद्दी नहीं है। उनको तो यह भी लगने लगा था कि अब शायद वह अपने बेटे का मुंह फिर कभी न देख पाएं। जब कभी बेटे का खयाल आता, उनके मन में इतनी-सी बात आती कि कोई आकर उन्हें यही बता दे कि मोहन जहां भी है, खुश है, सुखी है; बस इतने से ही उनका मन शांत हो जाएगा।

फिर एक दिन अचानक जैसे बिन मौसम बदली बरस गई।

मक्खन ने एक दिन आकर खबर दी कि उसने मोहन को देखा है।

"क्यों मेरे बुढ़ापे का मजाक उड़ाते हो, मक्खन!" दुर्गादास जी बोले। "कोई और बात करो।"

"सौंह गुरां दी, ला' जी···" मक्खन पूरे आत्मविश्वास से बोला। "मैंने उसे अपनी आंखों से देखा है। ज्ञानचंद के गैराज में ठोका-ठाकी कर रहा था।"

"सच कहते हो? तुम्हें धोखा तो नहीं हुआ?"

"सोलह आने सच।"

"उसने तुम्हें देखा था?"

"नहीं जी···मैं तो अपनी गड्डी में था।"

"मुझे ले चलोगे वहां ?"

"हां जी, जब चाहो···"

दुर्गादास जी ने फौरन कार्यक्रम बना डाला। बोले—"ठीक है, रात को ही निकल चलेंगे।"

मक्खन ने गर्दन हिला दी।

उसी दिन शाम, कांता छुपते-छुपाते आई और तारावंती के घुटने पर सिर रखकर चुपचाप रोने लगी।

चंदरसेन का मकान बने कई महीने हो चुके थे। वे लोग नये मकान में चले गए थे। कांता मैट्रिक कर गई थी। उसके आगे अब पढ़ाई का सवाल ही नहीं उठता था।

"क्या बात है, बेटी ?" तारा ने पूछा। लेकिन कांता बस चुपचाप रोती रही।

यह बड़ी अजीब बात थी। दुर्गादास जी और तारा को इतना तो पता चल ही गया था कि कांता की वजह से ही मोहन घर से भागा था। लेकिन इस बात पर वे कांता से कतई नाराज नहीं थे। बल्कि उन्हें कांता से ममता-सी हो गई थी। कांता जब भी आती, छुपते-छुपाते ही आती। तारा से बात करके उसे भी तसल्ली मिलती। मगर रोती वह कभी नहीं थी। सिर्फ उसका चेहरा मंजीठनी की तरह से ढका रहता था। हंसी इस चेहरे पर कभी नहीं आई थी। न हंसी, न रोना।

लेकिन आज कांता तारा का घुटना पकड़कर रो रही थी।

"क्या हुआ, बेटी ? कुछ बोल तो !···" तारा ने कई बार पूछा। आखिर जब कांता खूब रो चुकी, तो उसने बताया, "मेरी शादी हो रही है, बीजी···"

उसके बाद वह फिर रोने लगी। उससे कुछ कहते नहीं बना।

"शादी तो हर लड़की की होती ही है एक दिन···" तारा ने कहा। लेकिन मन में कहीं चुभन-सी उठी। मोहन यहां होता, तो वह इस चांद-सी प्यारी लड़की को अपनी बहू बना के रखती—चाहे उसे पति से लड़

ही क्यों न जाना पड़ता। लेकिन अब क्या हो सकता था? "लड़का तेरी पसंद का तो है न?" उसने इतना ही पूछा।

"मुझे क्या पता, बीजी? मैंने उसे देखा थोड़े ही है!" कांता ने रोते-रोते बताया।

तारा चुप रह गई।

कांता थोड़ी देर बैठी रही। फिर उसने अपना मुंह धो डाला। चुन्नी से मुंह पोंछा और जाते-जाते कहती गई, "मेरे लिए भगवान से प्रार्थना करना, बीजी···"

रात हो रही थी। तारा सब्जी काट रही थी और कांता तथा मोहन को याद कर रही थी। बेध्यानी में दरांती उसके अंगूठे को भी काटती चली गई। खून सब्जी में गिरने लगा।

तारा ने पास ही पड़े पानी के कटोरे में अंगूठा डाल दिया। सारा पानी लाल हो गया।

वह अंगूठे को वैसे ही पानी में डाले बैठी थी कि दुर्गादास जी घर आए।

अपनी पगड़ी को खूंटी पर लटकाते हुए वह बोले, "तेरे बेटे की खबर मिली है···"

तारा अपने जख्म को भूल गई। उसका हाथ उसके गाल पर जा पहुंचा। "सच!" गाल पर भी खून की धार-सी बहने लगी।

"अरे! खून कैसे बह रहा है!" दुर्गादास जी ने चिंतित स्वर में कहा और उसके पास बैठ गए।

"यों ही कट गया अंगूठा···" तारा बोली। "लेकिन इसे छोड़ो—यह बताओ, वह कहां है? कैसा है?"

"बताता हूं···" दुर्गादास जी अंदर से एक पट्टी निकालकर लाए और उसे गीला करके तारा के अंगूठे पर बांधते हुए बोले, "क्या सोच रही थीं सब्जी काटते हुए? अंगूठा पूरा कट जाता तो?"

"क्या होता!···" तारा ने उदासीनता से कहा।

"फिक्र मत करो···मोहन ठीक है···दिल्ली के एक गैराज में काम

कर रहा है···"

"हाय राम!···" तारा ने अपना कलेजा पकड़ लिया, "पता नहीं उसे खाने को भी मिलता होगा या नहीं···कैसे रहता होगा वहां···वह तो अकेला कभी रहा भी नहीं···"

"फिर जाग उठी ममता! वही लाड़!"

"ममता मर तो नहीं जाती···बेटे चाहे कैसे भी निकलें!···मैं तो रात-दिन यही प्रार्थना करती रही हूं···जहां भी रहे, खुश रहे···ठंडी हवा आती रहे···"

दुर्गादास जी चुप रहे। उनकी आंखों में अंधेरा-सा घिर आया।

"कब जाओगे उसे लेने?" तारा ने फिर पूछा।

"आज ही जा रहा हूं। तुम्हें बताने ही आया था।"

"देखो। तुम्हारा गुस्सा बड़ा खराब है। उससे कहना कुछ मत! बस, ले आना···"

"कह दिया न···तुम फिक्र मत करो···आएगा तो जरूर ले आऊंगा।"

उसी रात आखिरी बस पकड़कर दुर्गादास जी और मक्खन चल दिए।

जब तक वे उस बाजार में पहुंचे, जहां उस्ताद ज्ञानचंद का गैराज था, तब तक काफी दिन चढ़ आया था।

मक्खन ने दूर से ही दुर्गादास जी को इशारे से बताया, "ला' जी, देख लो···वह खड़ा है।"

गैराज और उस जगह के बीच करीब पचास गज का फासला था, जहां वे लोग खड़े थे। मोहन गैराज में अपने साथियों के साथ काम में मस्त था। बीच-बीच में वह बातें भी करता जाता। कभी-कभी हंस भी देता। एकाएक दुर्गादास जी को अहसास हुआ, यह मोहन तो है, लेकिन यह मोहन नहीं है, जो उनका बेटा है। दब्बू, चुप्पा, बात-बात में कुढ़ने वाला। यह मोहन इस नई दुनिया का हिस्सा है, जहां उसने अपनी स्वाभाविकता पा ली है। उसने हंसना सीख लिया है। उनका मन उस व्यक्ति

मिलने को बेचैन होने लगा जिसने मोहन को आदमी बना दिया था। उन्हें लगा, वह गैराज में जाएंगे, तो उस दुनिया में कड़वाहट घोल ा। तब शायद वह अपने बेटे को कभी वापस प्राप्त न कर सकें।

उन्होंने आसपास देखा। एक ढावा उन्हें नजर आ गया। वह उसी- ं चले गए। एक बेंच पर बैठते हुए ढावे के मालिक से बोले, "दो गिलास लस्सी !" फिर वह गिलास धो रहे एक लड़के से बोले, "ओए···क्या नाम है तेरा···सुन जरा···"

लड़का पास आ गया। उसके हाथ में अब भी एक गंदा गिलास था।

"सुन···वह सामने वाला गैराज है न···"

"कौन-सा जी ?···उस्ताद जी का ?"

"हां-हां, वही। तू जानता है उस्ताद जी को ?"

"हां जी। बड़ी अच्छी तरह ! रोज लस्सी पीने आते हैं।···"

"जरा उन्हें बुला लाएगा ?···मुझे उनसे कुछ बात करनी है···"

"क्यों जी ?···" लड़के ने मुंह खोला ही था कि ढावे वाले ने उससे कहा, "ओए, जा भाग के बुला ला उस्ताद जी को···मेरा नाम लेना···"

"अच्छा जी, अभी आया···"

लड़का दौड़ गया।

दुर्गादास जी ने ढावे वाले से कहा, "लस्सी तीन गिलास बना लो, भाई···"

दो-तीन मिनट बाद ही लड़का उस्ताद जी को लेकर लौट आया।

"क्या बात है, हरवंशलाल !" उस्ताद जी ने ढावे वाले से पूछा। "कैसे याद किया ?"

"मैंने नहीं···वह बाऊजी बैठे हैं न···उन्होंने बुलाया है···"

उस्ताद जी ने दुर्गादास जी को देखा। वह कह रहे थे, "आओ जी ···बैठो।"

उस्ताद जी पास ही बैठ गए, तो दुर्गादास जी ने बताया, "मैं दुर्गा- दास हूं···मोहन मेरा बेटा है···"

"ओह···अच्छा···कैसे हैं, हुजूर ?···गैराज में आ गए होते !···"

दुर्गादास जी कुछ नहीं बोले।

"उसे लेने आए हैं ?" उस्ताद जी ने पूछा।

लड़का लस्सी के तीन गिलास रख गया। दुर्गादास जी ने एक गिलास मक्खन को पकड़ा दिया। फिर दो घूंट खुद भी लस्सी पी और गिलास को हाथ में थामे-थामे ही बोले, "बस, देखने चला आया···कैसे कर रहा है काम ?"

"काफी समझदार है···सीख जाएगा।" उस्ताद जी ने बताया।

"लस्सी लीजिए न !" दुर्गादास जी बोले।

"यह सेवा तो मुझे करनी चाहिए थी आपकी !"

"नहीं, उस्ताद जी·· आप मोहन के उस्ताद हैं—उस्ताद का दर्जा तो बाप से भी ऊंचा होता है···मुझे तो बताशे-पगड़ी लेकर आना चाहिए था···"

दुर्गादास जी का सारा तनाव घुल गया था।

लस्सी खत्म करके उन्होंने मुंह पोंछा। हाथ से मूंछों को साफ किया। फिर आहिस्ता से बोले, "आप कुछ देते भी हैं उसे ?"

"देखिए···" उस्ताद जी झिझकते हुए-से कहने लगे, "अब मैं क्या बताऊं···लेकिन सच बात नहीं छुपाऊंगा···देना जरूर चाहता हूं, लेकिन मेरी हैसियत नहीं है अभी···"

"कोई बात नहीं, उस्ताद जी !" दुर्गादास जी की आवाज में हलका-सा गुरूर आ गया। फिर उन्हें लगा, गुरूर गलत है। स्वर मुलायम पड़ गया। "आप बुरा न मानें, तो एक गुजारिश करूं ?"

"कहिए न ! बुरा क्यों मानूंगा ?"

"आप मोहन के उस्ताद हैं—आप ऐसा कीजिए···आप मोहन को पच्चीस-तीस रुपए महीना देते रहिए···" उस्ताद जी की सवालिया नजर के उठने से पहले ही उन्होंने जोड़ दिया, "पैसे मैं भिजवा दिया करूंगा।"

उस्ताद जी झिझकने लगे।

"देखिए···मैंने इसीलिए कहा था—आप बुरा मान गए···"

"आप इतनी दूर से आए हैं।" उस्ताद जी ने बात को टाल दिया। "घर चलिए···ये बातें भी हो जाएंगी।"

"नहीं...घर मैं नहीं जा पाऊंगा...बस, आप इतना कह दीजिए कि आपने मेरी गुजारिश मान ली..."

"आप कहते हैं, तो ठीक है..."

दुर्गादास जी उठ खड़े हुए। मक्खन उनके वर्ताव से हैरान अपना सिर खुजा रहा था।

"मोहन को यह मत बताइएगा, उस्ताद जी" दुर्गादास जी ने कहा, "कि मैं यहां आया था। बड़ा अभिमानी लड़का है..."

उस्ताद जी ने उनके चेहरे की ओर देखा। उस चेहरे में कहीं दुख था, तो कहीं अभिमान भी था। ऐसे आदमी टूट जाते हैं, हार नहीं मानते।

"आप वेफिक्र रहिए..." उन्होंने आश्वासन दिया। "वह मेरे अपने लड़के से भी बढ़कर है—वह मेरे पास तो है..."

दोनों बुजुर्गों की निगाहें टकरा गईं।

दुर्गादास जी ने एक वार गैराज की तरफ नजर डाली। मोहन एक मोटरसाइकल के पास खड़ा था।

"अच्छा, अब इजाजत दीजिए..."

रात को दुर्गादास जी घर वापस पहुंच गए। उन्हें अकेले लौटा देख तारा सवालों की झड़ी लगा दी। दुर्गादास जी सफर से थके हुए थे। उन्हों सारे सवालों का एक ही जवाब दिया: "लाना ठीक नहीं लगा।"

"मगर..."

"देखो, भागवान...काम सीख रहा है। ले आता, तो उसका सान होता है।"

"मिले थे उससे? बात हुई?"

"नहीं, सिर्फ दूर से देखा था। काफी खुश नजर आ रहा था। उस्ताद से बात हुई। भला आदमी है। मोहन वहां आदमी बन जाए

"एक बार मिल तो लेते..."

"क्या फायदा होता! कल को वह वहां से भी भाग जाता कम से कम यह तो पता है कि वह कहां है, कैसा है...उसका मन

तो खुद ही चला आएगा…"

तारा अब कुछ नहीं बोली। दुर्गादास जी ने ही कहा, 'तुम उसे चिट्ठी लिखना। शायद तुम्हारे लिखने से चला आए मिलने…"

उसके बाद रात-भर कोई बात नहीं हुई।

चौथे दिन उस्ताद जी ने मोहन को एक चिट्ठी दी। चिट्ठी पर अपना नाम लिखा देखकर मोहन हैरान रह गया। चिट्ठी खोली, तो उसकी हैरानी और भी बढ़ गयी! मां को उसका पता कहां से मिल गया?

"किसकी चिट्ठी है?" उस्ताद जी ने पूछ लिया।

"मां की।"

"क्या लिखा है?—सब ठीक-ठाक है न?"

"हां—सब ठीक ही है। बस, उदास हैं।"

"वह तो होंगी ही…मां हैं आखिर…"

थोड़ी देर के लिए मोहन खो-सा गया। ममतामयी मां की याद ने उसे बांध लिया, उस्ताद जी ने उसे और नहीं छेड़ा, उन्होंने देख लिया था, मोहन की आंखें भीगने लगी हैं। उन्होंने अपने-आपको उसके पास से हटा लेना ही बेहतर समझा। फिर जब मोहन ने चिट्ठी को तह करके जेब में रख लिया, तो वह उसके पास आए और बोले, "मोहन, खाने के वक्त मेरे पास आना—मुझे तुमसे कुछ जरूरी बात करनी है।"

"अच्छा, उस्ताद जी!"

मोहन काम में उलझा तो रहा, लेकिन मां की चिट्ठी ने भी उसे काफी उलझाए रखा। फिर ऊपर से उस्ताद जी की बात। वह समझ नहीं पा रहा था कि ऐसी क्या बात है, जिसे उस्ताद जी अकेले में कहना चाहते हैं! इतना अरसा उनके साथ हो गया था, उन्होंने कभी कोई बात इस तरह नहीं कही थी कि सब न सुन सकें। उनका कुछ भी किसीसे छुपा नहीं था। उसने इस सारी उलझन को झटककर दिमाग से अलग कर देने की बहुत कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हो पाया। वह इंतजार करता रहा कि कब दोपहर हो और वह उस्तादजी से जाकर बात करे, लेकिन लगता था जैसे वक्त गुजर ही न रहा हो।

फिर किसी तरह दोपहर हुई । मोहन ने हाथ धोए और उस्ताद जी के पास पहुंच गया।

चाची—उस्ताद जी की पत्नी को मोहन इसी संबोधन से बुलाता था—प्लेटों में खाना डाल रही थीं। मोहन बेंच पर जाकर बैठ गया।

खाना डालकर चाची ने प्लेटें उन दोनों के सामने रख दीं । उस्ताद जी खाने लगे, लेकिन मोहन बैठा रहा ।

"खाना खाओ···"उस्ताद जी ने उसे वैसे ही बैठे देखकर कहा।

"तुमने इससे बात की ?" चाची ने उस्ताद जी से पूछा ।

"कर लेंगे—जल्दी क्या है ?" उस्ताद जी बोले, फिर मोहन से कहने लगे, "खाना खाओ, भाई···ऐसे कैसे बैठ गए हो !"

मोहन सिर झुकाकर खाने लगा।

अब उस्ताद जी ने कहा, "देखो, बेटे, दो बातें करनी हैं मुझे तुमसे ···" मोहन ने आंख उठाकर उनकी तरफ देखा। उस्ताद जी खाते-खाते मुसकरा रहे थे। "पहली बात तो यह कि इस महीने से मैंने तय किया है कि तुम्हें तनख्वाह मिलनी चाहिए—सौ-पचास रुपये महीना तुम्हें मिल जाया करेगा···"

"उस्ताद जी···पर," मोहन कहना चाहता था, उसे पैसे की जरूरत ही क्या है ? खाने को घर से मिल जाता है। सोने के लिए गैराज है ही । पिक्चर-विक्चर देखनी होती है, तो साथी ले जाते हैं और वह अलगोजा बजाकर उनका मनोरंजन कर देता है, लेकिन उस्ताद जी ने उसे बात पूरी नहीं करने दी ।

"सुनो तो ! ···" वह बोले, "मैं जानता हूं तुम क्या कहना चाहते हो। पैसे का तुम क्या करते हो, यह तुम्हारे ऊपर है। लेकिन मेरा खयाल है, तुम्हें कुछ पैसे हर महीने मां को भेजते रहना चाहिए। उन्हें अच्छा लगेगा। अब दूसरी बात—तुम्हारी चाची मेरी जान खाए हुए है कई दिनों से···"

मोहन ने चाची की ओर देखा। वह मुसकरा रही थीं और उनकी आंखों से ममता के सोते फूट रहे थे।

"यह कहती है, 'मोहन से कहो, वह घर में रहा करे···' "

"हां, बेटे !" अब चाची बोली। "तू हमारे साथ ही रहने चला चल। वह घर भी तो तेरा ही है..."

मोहन अभिभूत हो गया। पहले रहस्य के तनाव ने उसमें साथा नहीं जा रहा था। अब उसे लगा, यह स्नेह और ममत्व उसे जाने नहीं देगा... उसी रात मोहन अपना झोला उठाकर उस्ताद जी के साथ उनके घर चला गया।

घर उसने पहले भी देखा था, लेकिन सिर्फ द्वार और आंगन ही। और कुछ देखने की कभी जरूरत ही नहीं पड़ी थी।

सब्जी मंडी के इलाके में कच्ची ईंटों से बनी गली में वह आखिरी मकान था—एकमंजिला। आंगन काफी खुला था। चारों तरफ कमरे बने हुए थे।

घर में दो ही और प्राणी थे। चाची और एक बेटी, कृष्णा—पंद्रह-सोलह साल की।

"लो, भई ! बहुत पीछे पड़ी हुई थीं न ! ले आया हूं तुम्हारे बेटे को !" उस्ताद जी ने पत्नी से कहा। कृष्णा सामने आई, तो वह बोले, "मोहन, यह है तुम्हारी छोटी बहन, कृष्णा...!"

कृष्णा मुसकरा दी।

चाची ने मोहन को सीने से लगा लिया। उसका माथा चूमा। सिर पर प्यार से हाथ फेरा। उनका गला भर्रा आया था—कुछ कह न सकीं।

उस्ताद जी बोले, "चलो, तुम्हें तुम्हारा कमरा भी दिखा दूं..."

वह उसे कोने में बने एक कमरे में ले गए। दरवाजा खोलकर बत्ती जलाई। मोहन ने कमरे को पूरी तरह देखा। उसे लगा, उसकी सफाई आज ही की गई है। कमरा करीब-करीब खाली था। एक पलंग, एक मेज, एक कुर्सी—और बस।

"अच्छा है ?" उस्ताद जी ने पूछा।

"बहुत अच्छा है।"

"हमारा चतरू इसी में रहता था। अब तो, बंबई में जिस कमरे में वह रहता है, सुना है उसमें आठ-दस लोग उसके साथ रहते हैं..." उस्ताद जी ने अनजाने ही एक ठंडी सांस खींच ली। मोहन ने अपना

ां रख दिया।
वी ने आवाज देकर उन्हें बुला लिया। कृष्णा खाना लगा रही

चलो, हाथ-मुंह धो लो..." उस्ताद जी ने कहा। मोहन उनके
पीछे ही कमरे से निकल गया।

12

नये परिवार में मोहन घी-खिचड़ी जैसा बन गया। बल्कि उसमें वह इतना खो गया कि उसे किसी बात की सुध ही न रही। मां की चिट्ठियां आतीं। कभी वह उन्हें पढ़ लेता, कभी वैसे ही मेज पर रख देता—पुरानी चिट्ठियों के ढेर पर। खुद कभी जवाब न देता। हर महीने पचीस-तीस रुपयों का मनीऑर्डर घर भेज देता—और बस। मां, बाऊजी, छूटा हुआ शहर, कांता, मंदिर, गलियां जैसे अतीत की चीजें हो चुके थे। उनकी खबरें चिट्ठियों में आती रहतीं—मां बीमार हो गयी थी, अब ठीक है, मां-बाऊजी वैष्णोदेवी की यात्रा पर गये थे। बुआजी का स्वर्गवास हो गया है आदि-आदि। मोहन उन खबरों को अखबारी खबरों की तरह प... लेता—और कई बार अखबारी खबरों की ही तरह कई खबरें अनपढ़ी रह जातीं।

मोहन उस्ताद जी के घर का ही एक हिस्सा हो गया था। कृ... का उससे बड़ा स्नेह था। अपने बड़े भाई के लिए सुरक्षित सारा ... उसने मोहन पर उंडेल दिया था। मोहन कई बार स्कूली पढ़ाई में ... मदद भी कर देता। दिन के वक्त, मोहन की अनुपस्थिति में वह ... कमरे में बैठी पढ़ती रहती। शाम होती, तो खाना वगैरह बनाने में ... मदद करने लगती।

वक्त बीतता चला गया। मोहन की मेज पर चिट्ठियों का ... चला गया।

अब मोहन तेईस-चौबीस का कड़ियल जवान हो चुका था। उसके नीचे अपनी मोटर साइकल आ चुकी थी और दुनिया साठ-सत्तर मील की रफ्तार से भागती नजर आती थी।

उस शाम मोहन कुछ ज्यादा ही खुश था। दिन में उस्ताद जी ने सब लोगों के सामने उसकी तारीफ की थी और कहा था, "भई, मैं तो अब रिटायर होने की सोच रहा हूं। अब नये लड़कों को मोहन ही ट्रेनिंग दिया करेगा। मुझसे काम होता नहीं···"

"हां, उस्ताद जी!" मोहन ने कहा था, "अब आपको काम करने की जरूरत ही क्या है? काम फर्स्ट क्लास चल रहा है। आप सिर्फ ग्राहकों से निपटा कीजिए। गैराज चलता रहेगा···"

उस्ताद जी ने मोहन को गले लगा लिया था।

गैराज सचमुच बहुत अच्छा चलने लगा था। काम इतना ज्यादा आने लगा था कि उसे पूरा करने में भी दिक्कत हो रही थी। उस्ताद जी की साख तो पहले से ही अच्छी थी। अब वह और भी पुख्ता हो गयी थी।

खास बात यह हुई थी कि गैराज में अब एक भी आदमी ऐसा नहीं था, जिसे थोड़ा-बहुत पैसा न मिलता हो। इस सारी स्थिति के लिए उस्ताद जी मोहन को ही बधाई देते थे।

उस खुशी के प्रभाव में मोहन उस दिन बड़े जोश में अपनी मोटर साइकल को फड़फड़ाते हुए ही गली से घर में भगाता ले गया। लेकिन आंगन में पहुंचते ही उसके हाथ ब्रेक लगाना भी भूल गये।

रसोई के द्वार पर, हाथ में दूध का गिलास लिए, एक सौम्य मूर्ति ठिठककर खड़ी रह गई थी। मोहन ने उसे पहले कभी नहीं देखा था। जोर्जेट की सफेद साड़ी में लिपटी वह मूर्ति संगमरमर को तराशकर बनाई गई लगती थी। इतनी खूबसूरत! ···मोहन की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे ही रुकी रह गई।

फिर जब उसे ध्यान आया कि मोटर साइकल का इंजिन अभी तक भड़भड़ा रहा है, तो उसके शरीर में हरकत हुई। उसने इंजिन बंद कर दिया और मोटर साइकल को ठेलकर एक दीवार के पास खड़ा क

झोला वहां रख दिया।

चाची ने आवाज देकर उन्हें बुला लिया। कृष्णा खाना लगा रही थी।

"चलो, हाथ-मुंह धो लो···" उस्ताद जी ने कहा। मोहन उनके पीछे-पीछे ही कमरे से निकल गया।

12

नये परिवार में मोहन घी-खिचड़ी जैसा बन गया। बल्कि उसमें वह इतना खो गया कि उसे किसी बात की सुध ही न रही। मां की चिट्ठियां आतीं। कभी वह उन्हें पढ़ लेता, कभी वैसे ही मेज पर रख देता—पुरानी चिट्ठियों के ढेर पर। खुद कभी जवाब न देता। हर महीने पचीस-तीस रुपयों का मनीऑर्डर घर भेज देता—और बस। मां, बाऊजी, छूटा हुआ शहर, कांता, मंदिर, गलियां जैसे अतीत की चीजें हो चुके थे। उनकी खबरें चिट्ठियों में आती रहतीं—मां बीमार हो गयी थी, अब ठीक है, मां-बाऊजी वैष्णोदेवी की यात्रा पर गये थे। बुआजी का स्वर्गवास हो गया है आदि-आदि। मोहन उन खबरों को अखबारी खबरों की तरह पढ़ लेता—और कई बार अखबारी खबरों की ही तरह कई खबरें अनपढ़ी भी रह जातीं।

मोहन उस्ताद जी के घर का ही एक हिस्सा हो गया था। कृष्णा का उससे बड़ा स्नेह था। अपने बड़े भाई के लिए सुरक्षित सारा प्यार उसने मोहन पर उंडेल दिया था। मोहन कई बार स्कूली पढ़ाई में उसकी मदद भी कर देता। दिन के वक्त, मोहन की अनुपस्थिति में वह उसीके कमरे में बैठी पढ़ती रहती। शाम होती, तो खाना वगैरह बनाने में मां की मदद करने लगती।

वक्त बीतता चला गया। मोहन की मेज पर चिट्ठियों का ढेर बढ़ता चला गया।

अब मोहन तेईस-चौबीस का कड़ियल जवान हो चुका था। उसके नीचे अपनी मोटर साइकल आ चुकी थी और दुनिया साठ-सत्तर मील की रफ्तार से भागती नजर आती थी।

उस शाम मोहन कुछ ज्यादा ही खुश था। दिन में उस्ताद जी ने सब लोगों के सामने उसकी तारीफ की थी और कहा था, "भई, मैं तो अब रिटायर होने की सोच रहा हूं। अब नये लड़कों को मोहन ही ट्रेनिंग दिया करेगा। मुझसे काम होता नहीं···"

"हां, उस्ताद जी!" मोहन ने कहा था, "अब आपको काम करने की जरूरत ही क्या है? काम फर्स्ट क्लास चल रहा है। आप सिर्फ ग्राहकों से निपटा कीजिए। गैराज चलता रहेगा···"

उस्ताद जी ने मोहन को गले लगा लिया था।

गैराज सचमुच बहुत अच्छा चलने लगा था। काम इतना ज्यादा आने लगा था कि उसे पूरा करने में भी दिक्कत हो रही थी। उस्ताद जी की साख तो पहले से ही अच्छी थी। अब वह और भी पुख्ता हो गयी थी।

खास बात यह हुई थी कि गैराज में अब एक भी आदमी ऐसा नहीं था, जिसे थोड़ा-बहुत पैसा न मिलता हो। इस सारी स्थिति के लिए उस्ताद जी मोहन को ही बधाई देते थे।

उस खुशी के प्रभाव में मोहन उस दिन बड़े जोश में अपनी मोटर साइकल को घड़घड़ाते हुए ही गली से घर में भगाता ले गया। लेकिन आंगन में पहुंचते ही उसके हाथ ब्रेक लगाना भी भूल गये।

रसोई के द्वार पर, हाथ में दूध का गिलास लिए, एक सौम्य मूर्ति ठिठककर खड़ी रह गई थी। मोहन ने उसे पहले कभी नहीं देखा था। जोर्जेट की सफेद साड़ी में लिपटी वह मूर्ति संगमरमर को तराशकर बनाई गई लगती थी। इतनी खूबसूरत! ···मोहन की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे ही रुकी रह गई।

फिर जब उसे ध्यान आया कि मोटर साइकल का इंजिन अभी तक भड़भड़ा रहा है, तो उसके शरीर में हरकत हुई। उसने इंजिन बंद कर दिया और मोटर साइकल को ठेलकर एक दीवार के पास खड़ा कर

झोला वहां रख दिया ।

चाची ने आवाज देकर उन्हें बुला लिया। कृष्णा खाना लगा रही थी ।

"चलो, हाथ-मुंह धो लो···" उस्ताद जी ने कहा। मोहन उनके पीछे-पीछे ही कमरे से निकल गया ।

12

नये परिवार में मोहन घी-खिचड़ी जैसा बन गया । बल्कि उसमें वह इतना खो गया कि उसे किसी बात की सुध ही न रही । मां की चिट्ठियां आतीं । कभी वह उन्हें पढ़ लेता, कभी वैसे ही मेज पर रख देता—पुरानी चिट्ठियों के ढेर पर। खुद कभी जवाब न देता । हर महीने पचीस-तीस रुपयों का मनीऑर्डर घर भेज देता—और बस । मां, बाऊजी, छूटा हुआ शहर, कांता, मंदिर, गलियां जैसे अतीत की चीजें हो चुके थे । उनकी खबरें चिट्ठियों में आती रहतीं—मां बीमार हो गयी थी, अब ठीक है, मां-बाऊजी वैष्णोदेवी की यात्रा पर गये थे । बुआजी का स्वर्गवास हो गया है आदि-आदि । मोहन उन खबरों को अखबारी खबरों की तरह पढ़ लेता--- और कई बार अखबारी खबरों की ही तरह कई खबरें अनपढ़ी भी रह जातीं ।

मोहन उस्ताद जी के घर का ही एक हिस्सा हो गया था । कृष्णा का उससे बड़ा स्नेह था । अपने बड़े भाई के लिए सुरक्षित सारा प्यार उसने मोहन पर उंडेल दिया था । मोहन कई बार स्कूली पढ़ाई में उसकी मदद भी कर देता । दिन के वक्त, मोहन की अनुपस्थिति में वह उसीके कमरे में बैठी पढ़ती रहती । शाम होती, तो खाना वगैरह बनाने में मां की मदद करने लगती ।

वक्त बीतता चला गया। मोहन की मेज पर चिट्ठियों का ढेर बढ़ता चला गया ।

अब मोहन तेईस-चौबीस का कड़ियल जवान हो चुका था। उसके नीचे अपनी मोटर साइकल आ चुकी थी और [illegible] रफ्तार से भागती नजर आती थी।

उस शाम मोहन कुछ ज्यादा ही खुश था। दिन में उस्ताद जी ने सब लोगों के सामने उसकी तारीफ की थी और कहा था, "भाई, मैं तो अब रिटायर होने की सोच रहा हूं। अब नये लड़कों को मोहन ही ट्रेनिंग दिया करेगा। मुझसे काम होता नहीं…"

"हां, उस्ताद जी!" मोहन ने कहा था, "अब आपको काम करने की जरूरत ही क्या है? काम मज़े से चल रहा है। [illegible] से निपटा दीजिए। गैराज चलता रहेगा…"

उस्ताद जी ने मोहन को गले लगा लिया था।

गैराज सचमुच बहुत अच्छा चलने लगा था। [illegible] माने लगा था कि उसे पूरा करने में भी दिक्कत हो रही थी। [illegible] की साख तो पहले से ही अच्छी थी। अब [illegible]

खास बात यह हुई थी कि गैराज ने [illegible] था, जिसे थोड़ा-बहुत पैसा न मिलता हो। [illegible] उस्ताद जी मोहन को ही बधाई देते थे।

दिया।

फिर उसकी हिम्मत नहीं हुई कि वह रसोई की तरफ नजर घुमाकर देख भी सके।

अपने कमरे की ओर बढ़ते हुए उसने कृष्णा को आवाज दी, तो उसे ऐसा महसूस हो रहा था, जैसे उस मूर्ति की आंखें उसकी पीठ को बींधती जा रही हों।

कमरे में पहुंचकर वह कुर्सी में धंस गया।

सरदी के मौसम में भी पसीना-पसीना होते मोहन को देखकर कृष्णा बोली, "क्या बात है, भैया?"

"कुछ नहीं···वह···मोटर साइकल के पीछे संतरों की टोकरी रखी है···उतार लो···"

"बात क्या है? तुम्हारी तबियत तो ठीक है?" कृष्णा ने फिर पूछा।

"हां—तबियत को क्या होगा?···जरा एक कप चाय बना दो···"

"अभी लाई···"

कृष्णा चली गई। उसके लौटकर आने तक मोहन ने अपने-आपको काफी संयत कर लिया था। दो घूंट चाय अंदर गई, तो वह और भी संभल गया।

"बाऊजी कब आयेंगे?" कृष्णा ने पूछा।

"आते ही होंगे—क्यों?"

"शकुन चाची आई हुई है···"

"वह चाची है?"

"हां—विधवा है बेचारी। बाऊजी के एक दूर के भाई थे। फौज में थे···"

मोहन चुपचाप चाय पीता रहा।

"ज्यादा दिन रहेगी यहां?" फिर उसने पूछा।

"नहीं—दो-तीन दिन। हर साल आ जाती है मायके से। दो-तीन दिन रहती है—और यहीं से सीधी ससुराल चली जाती है!"

फिर मोहन ने कोई सवाल नहीं किया। चुपचाप चाय पीता रहा।

सरदियां हों या गरमियां, सारा परिवार आंगन में बिछी चारपाइयों पर बैठकर ही रात का खाना खाता था। फिर सब लोग बैठकर थोड़ी देर बातें करते रहते थे, और जिसे नींद आने लगती थी, वह उठकर कमरे में सोने चला जाता था।

उस दिन रात का खाना साथ-साथ हुआ। उस्ताद जी बिस्तर पर लेट गए थे और दिन की दूसरी सिगरेट उन्होंने सुलगा ली थी।

चाची संतरे छील-छीलकर सबको दे रही थीं।

उन्होंने एक संतरा शकुन को भी दिया।

शकुन की नन्ही-सी छोटी, निक्की, फर्श पर उछल-कूद रही थी।

वह कहीं से पतली-सी बांस की छड़ी उठा लाई थी और उसपर सवारी करने लगी थी।

मोहन की निगाहें बार-बार शकुन की ओर चली जातीं। उसने एक बात महसूस की थी—शकुन का एक हाथ बार-बार अपने गले और उसके नीचे के भाग पर घूमने लगता था, जैसे उसे बड़ी प्यास लगी हो और वह अपनी प्यास को दबाने की कोशिश कर रही हो।

मोहन अपनी निगाहों को दूसरी तरफ घुमाने की कोशिश करता, लेकिन निगाहें बार-बार शकुन की ओर खिंची चली जातीं।

मोहन को बड़ी उलझन होती।

एकाएक निक्की ने अपनी पतली-सी छड़ी को हाथ में सीधा उठा लिया और तोतली जबान में बोली, "मैं झांसी की लानी हूं!"

"अच्छा!" उस्ताद जी ने कहा, "तू झांसी की लानी है तो तेला घोला कहां है?"

"घोला मल गया···उछने लंबी छलांग लगाई थी न···उछकी टांग टूट गई···मल गया!"

आंगन में बैठे सभी लोग उस बातूनी बच्ची की बातों में रस लेने लगे थे। शकुन हौले-हौले मुसकराए जा रही थी।

"तो अब क्या करेगी?" उस्ताद जी ने निक्की से अगला सवाल किया।

निक्की किसी नाटक के रटे-रटाए संवादों की तरह जोश से भरकर

बोली, "अंगलेजों को माल भगाऊंगी ! उनके छाले घोले छीन लूंगी !" और इसीके साथ वह छड़ी को ऐसे घुमाने लगी, जैसे वह तलवार चला रही हो। छड़ी उस्ताद जी को जरा-सा छू गई और वह ऐसे दिखाने लगे, जैसे वह बुरी तरह घायल हो गए हों।

सब लोग हंसने लगे। लेकिन निक्की एकदम गंभीर थी। उसका चेहरा तमतमा रहा था और अब वह मोहन के सामने खड़ी उसे ललकार रही थी: "होछियाल ! उथाओ तलवाल ! मैं निहत्थों पल वाल नहीं करती !"

मोहन हंस दिया। फिर उसने निक्की को कमर से पकड़कर उठा लिया। पर निक्की छड़ी को घुमाती रही और छूटने की कोशिश करती रही। अचानक छड़ी का सिरा उसकी आंख को छूता हुआ निकल गया। मोहन ने निक्की को छोड़ दिया।

मोहन फिर भी हंस रहा था, लेकिन उसकी आंख में पानी आ गया था।

"अब बोलो ! आया मजा !" निक्की ने शरारत से कहा, मगर अब शकुन ने उसे डांट दिया।

"निक्की !" उसने तीखी आवाज में कहा, "देख, मैं बहुत मारूंगी।"

"मैं तुमछे नहीं बोलती !" निक्की मां की तरफ पीठ करके बैठ गई।

मोहन ने उसे उठाकर गोद में बिठा लिया।

शकुन गुस्से में थी। वह उठी और मोहन के पास आ गई। निक्की से बोली, "चल सो जा अब ! बहुत हो चुकी शरारतें !"

निक्की मोहन से चिपक गई। "मैं नहीं छोऊंगी।"

शकुन ने निक्की की बांह पकड़कर उसे खींचना चाहा, लेकिन मोहन की नजर में जाने उसे क्या नजर आया कि वह पीछे हट गई।

निक्की अब भी मोहन से चिपकी हुई थी।

मोहन को काफी देर तक नींद नहीं आई।

निक्की उसके पास ही सो रही थी। पहले तो वह उसकी छाती पर

सोनी रही, फिर मोहन ने धीरे से उसे बिस्तर पर लिटा दिया था। उसकी एक बांह अब भी मोहन के बदन पर थी।

बहुत दिनों के बाद मोहन को कांता की याद हो आई थी। और वह विचारों में डूबकर रह गया था।

रात थी और घर में सन्नाटा था। मोहन अभी तक जाग रहा था। उसे लगा, कोई चलकर उसके दरवाजे तक आया है और वहीं रुक गया है। दो-तीन पल खामोशी रही, फिर शकुन की आवाज आई—"निक्की !"

मोहन के कान खड़े हो गए। फिर एक पल के बाद दुबारा आवाज आई—"निक्की !"

वह बिस्तर से उतर आया। दरवाजे के पास पहुंचा, तो शकुन वहीं खड़ी थी। मोहन के पास से होकर कमरे में जाते हुए वह बोली, "सो गई !···बड़ी जिद्दी है···किसीकी सुनती ही नहीं···"

सोई हुई निक्की को उठाने के लिए वह झुकी, तो मोहन बोला, "रहने दीजिए न···सोई रहेगी···"

"नहीं···आपको तंग करेगी···बहुत टांगें चलाती है नींद में···"

"सभी बच्चे चलाते हैं···"

लेकिन शकुन ने निक्की को उठाकर कंधे से लगा लिया। वह बाहर की ओर चली, तो एक बार उसने मोहन की ओर देख लिया। अंधेरे में उसकी आंखें चमकती-सी लगीं।

"आप सो रहिए···" जाते-जाते वह कहती गई।

मोहन सुन्न-सा बिस्तर पर बैठ गया। उसके माथे पर पसीना चुहचुहा आया था। कुछ क्षण वह उस आवाज, उन आंखों की चमक और मांसलता की गंध से घिरा बैठा रहा। फिर जब वह वापस बिस्तर पर लेटा, तो उसका दिल बुरी तरह धड़क रहा था और कनपटियों की नसें अजीब तनाव से कसी हुई थीं।

बहुत देर तक उसे नींद नहीं आई।

सुबह, रोजाना की तरह अपने-आप उसकी आंख नहीं खुली। कृष्णा ने-

तीन बार देख गई थी। फिर जब धूप निकल आई, तो उसने उसे जगा दिया। चाय का प्याला वह साथ लेती आई थी।

मोहन उठा। उसने देखा, कृष्णा का चेहरा कुछ उतरा हुआ था।

"क्या बात है, कृष्णा ?" उसने चितातुर होकर पूछा।

"बाऊजी की तबियत खराब है," कृष्णा ने बताया।

"अरे ! रात को तो ठीक-ठाक थे !"

"हां—सुबह उठे, तो बुखार से तप रहे थे।"

"अच्छा..."

मोहन ने जल्दी से नल पर जाकर कुल्ला किया और फिर लौटकर चाय का घूंट भरते हुए बोला, "डॉक्टर को बुलाया ?"

"अभी तो नहीं बुलाया..." कृष्णा ने बताया। "बाऊजी अंग्रेजी दवा लेते ही नहीं।"

"तबियत ज्यादा खराब हो तो..."

मोहन ने उस्ताद जी को भी समझाया कि डॉक्टर को दिखा लेना चाहिए, पर वह नहीं माने। उन्होंने इतना ही कहा, "एकाध दिन में ठीक हो जाऊंगा। ऐसे ही सरदी लग गई होगी। तुम काम पर जाओ। शाम को जल्दी लौट आना..."

लेकिन शाम तक उस्ताद जी की तबियत और भी ज्यादा बिगड़ गई। चाची उनके पास बैठी थीं। शकुन लगातार अंदर-बाहर हो रही थी। उसीने मोहन से कहा, "आप डॉक्टर को बुला ही लाइए...ऐसे तो ठीक नहीं है..."

मोहन डॉक्टर को बुला लाया। उस्ताद जी उस समय करीब-करीब बेहोश थे। डॉक्टर ने उनकी जांच की और बताया कि उसे डर है, उस्ताद जी को न्यूमोनिया हो गया है। उसने इंजेक्शन दे दिया और दवा भी भिजवा दी। रात को एक बार वह फिर आकर देख गया।

घर-भर में सन्नाटा छा गया था।

उस रात न खाना बना, न किसीने खाया।

सब लोग उस्ताद जी के बिस्तर को घेरकर बैठे रहे।

सुबह चार बजे के करीब उस्ताद जी ने आंख खोली।

सबकी जान में जान आई।

दोपहर को मोहन गैराज से एक बार निकलकर घर का चक्कर लगा गया। उस्ताद जी की तबियत संभलने लगी थी।

रात तक वह बात करने लायक हो गये थे। मोहन उनके पास जाकर बैठा, तो वह बोले, "मुझे एक फिक्र लगी हुई है···"

"बोलिए न···"

"उसे कल जाना है।"

मोहन चुप सुनता रहा। लेकिन पास बैठी शकुन कह उठी, "आप मेरी फिकर मत कीजिए···मैं चली जाऊंगी। चिट्ठी तो मैंने लिख ही दी थी···लेकिन जी तो यहीं अटका रहेगा···"

"नहीं अकेली नहीं जाओगी तुम···और—रुकने की भी कोई जरूरत नहीं। मैं अब ठीक हूं।" फिर वह मोहन से बोले, "इसकी ससुराल वाले इंतजार करेंगे···बड़े शक्की मिजाज हैं···नहीं पहुंचेगी, तो जाने क्या-क्या सोचेंगे···मौसम भी खराब चल रहा है—तुम छोड़ आओगे इसे?"

मोहन फौरन जवाब नहीं दे पाया। फिर हिचकिचाया। "मैं··· उस्ताद जी···मगर?···" उसकी निगाहें शकुन की तरफ उठ गईं, फिर आश्वस्त-सा होकर बोला, "आप कहते हैं तो···"

उस्ताद जी बोले, "सुबह नत्थू से कह देना, तुम्हारी गैर-हाजिरी में वह काम संभाल लेगा···"

"जी," मोहन ने सिर हिला दिया।

13

दूसरे दिन सुबह की बस से वे लोग चल दिए।

खूबसूरत पहाड़ी इलाका। ठंड का मौसम। ढलती हुई शाम। बस करीब दो सौ मील का सफर तय कर आई थी।

सरदी इतनी ज्यादा थी कि सवारियां कंबलों-लिहाफों में लिपटी

सुरसुरियों की तरह सुन्न पड़ी हुई थीं।

शकुन निक्की को अपनी गोद में लिए बैठी थी और उसने अपने शाल में उसे लपेट रखा था।

मोहन लगातार खिड़की से बाहर ही देखे जा रहा था। चार-पांच घंटों की सहयात्रा के बावजूद शकुन और उसके बीच दो-चार शब्दों से ज्यादा का आदान-प्रदान नहीं हुआ था। लेकिन आंखें और मुस्कराहटें बहुत कुछ कहती-सुनती रही थीं।

एकाएक निक्की खिड़की की तरफ अंगुली दिखाते हुए बोली, "मैं वहां बैठूंगी।"

"नहीं," शकुन बोली, "सरदी है—ठंड लग जाएगी।"

लेकिन निक्की उसकी गोद से उतरकर नीचे खड़ी हो गई और बोली, "मैं बैठूंगी।"

"निक्की !" मगर निक्की पहले ही मोहन के पास सरक गई थी। वह खिड़की की तरफ बढ़ रही थी कि शकुन ने उसका कंधा पकड़ लिया, "अच्छा, रुक···"

निक्की रुक गई। शकुन उसके सिर पर बंधा स्कार्फ ठीक करने लगी। फिर मोहन ने उसे उठाकर खिड़की के पास बिठा दिया। अनजाने में ही उसकी कुहनी शकुन के वक्ष से छू गई।

उसका पूरा बदन झनझना गया। दोनों की नजरें मिलीं और फिर झुक भी गईं। फिर दोनों नजरें चुराने लगे।

मोहन के लिए यह सारी अनुभूति एकदम नई थी। उसकी चेतना में बिजलियां-सी कौंध रही थीं—रंगीन पट्टियां एक-दूसरे से उलझ रही थीं।

निक्की खिड़की के कांच में से बाहर देखती हुई हर चीज पर तरह-तरह के मुंह बना रही थी और खुश हो रही थी।

उसने एक बार मुंह उठाकर मोहन की ओर देखा, तो मोहन ने उसकी नाक पर अंगुली रखकर धीरे से दबा दिया। वह खिलखिलाकर हंसने लगी।

उसका स्कार्फ फिर सिर से नीचे ढलक गया। शकुन ने हाथ बढ़ाकर

रुमाल ठीक किया—और इस बार अपने बदन का पूरा भार मोहन की बाहों पर डाल दिया।

मोहन का रोम-रोम कांप उठा।

यात्रा अजीब-से रोमांचकारी अनुभव में बदलती जा रही थी।

मोहन विचारों में डूब गया। इस यात्रा का अंत क्या हो सकता है? यह यात्रा, जो खत्म होने के लिए ही शुरू हुई है···शकुन क्या चाहती है? वह खुद क्या चाहता है? और जो कुछ वे दोनों चाहते हैं, उसका अंत क्या हो सकता है? यही न कि कुछ घंटों बाद यह यात्रा समाप्त हो जायेगी और दोनों एक-दूसरे को अलविदा कह देंगे—शायद फिर कभी न मिलने के लिए! फिर इस क्षणिक लगाव का मतलब···?

बस एक झटके से रुक गई और मोहन की विचार-शृंखला भी टूट गई।

बाहर अंधेरा घिरने लगा था।

निक्की जाने कब की सो चुकी थी। उसकी गर्दन मोहन की बांह पर टिकी हुई थी।

शकुन भी अधनींदी-सी हो रही थी।

बस रुकी, तो उसकी आंखें भी पूरी खुल गईं।

बस के आगे और पीछे गाड़ियां रुकी हुई थीं।

सड़क के दोनों ओर उन गाड़ियों के ड्राइवर और कुछ यात्री भी खड़े या बैठे हुए थे।

"क्या हुआ?" बस के ड्राइवर ने बाहर खड़े लोगों से पूछा।

"पुल टूट गया है," एक आदमी ने जवाब दिया।

बस के यात्री एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। पूरी बस में मद्धिम-मद्धिम भिनभिनाहट-सी फैल गई।

"मिलिटरी फोर्स आई हुई है—बेली ब्रिज बन रहा है।"

"कितनी देर लगेगी?"

"रात तो लग ही जाएगी···"

शकुन के चेहरे पर हल्की-सी चिंता उभर आई।

"अब क्या होगा?" वह बोली।

मोहन के पास कोई जवाब नहीं।

सवारियां धीरे-धीरे उतरने लगी थीं। कंडक्टर छत से सामान उतारकर उन्हें देता जा रहा था।.आखिर वे लोग भी नीचे उतर आए।

वाहर आते ही महसूस हुआ, ठंड वहुत ज्यादा थी। शाम ढल रही थी। ऊपर से वादल और वर्फीली हवा। शकुन ने निक्की को अच्छी तरह शाल में लपेट लिया। मोहन ने शकुन का सूटकेस संभाल रखा था।

सरदी, ठंडी हवा, ऊपर से उतरती हुई रात। वारिश भी हो सकती थी। मोहन सोच रहा था—रात कहां कटेगी?

उसने कंडक्टर से ही पूछना वेहतर समझा।

"रात काटने के लिए कोई जगह है आसपास?" उसने कंडक्टर से पूछा।

"हां जी," कंडक्टर वोला, "एक होटल है—पीछे छोड़ आए हैं हम लोग…"

"कितनी दूर होगा?"

"डेढ़-दो फलांग—पर आप जल्दी से चले जाइए—वच्चा है आप लोगों के साथ…कहीं सारी जगह भर न जाए—सभी लोग वहीं जा रहे हैं…आगे वाली गाड़ियों के लोग भी गये होंगे…"

मोहन चिंतित हो उठा।

वे लोग तेजी से कदम उठाने लगे।

हुआ वही, जिसका डर था।

कंडक्टर ने जिसे होटल वताया था, वह एक ढावा था, जिसके साथ तीन-चार कमरे लगे हुऐ थे। सभी कमरों में यात्री अपना-अपना सामान लगा चुके थे। और कहीं पांव रखने को भी जगह नहीं थी।

ढावे का मालिक भला आदमी निकला। वोला, "अव एक ही रास्ता है, आप लोग स्टोर में चले जाइए…तकलीफ तो होगी, लेकिन और हो भी क्या सकता है?"

मोहन ने शकुन की तरफ देखा। जाहिर था, वह इस वात से परेशान था कि ढावे वाला उन्हें मियां-वीवी समझ रहा था।

"ठीक है, भाई जी !" शकुन ने कहा। "हम लोग स्टोर में ही पड़ रहेंगे..."

मोहन ने चैन की सांस ली।

वे लोग ढाबे वाले के पीछे-पीछे चल दिए। बुजुर्ग ने गलियारे के आखिर में बने एक कमरे का दरवाजा खोला और हाथ में पकड़ी लालटेन एक ओर रख दी।

फिर वह यह कहते हुए चल दिया कि "किसी चीज की जरूरत हो, तो मैं रसोईघर में रहूंगा।"

मोहन ने बुजुर्ग का शुक्रिया अदा किया और हाथ में पकड़े सूटकेस को फर्श पर रखकर कमरे में एक नजर डाली। एक दीवार के साथ भरी हुई बोरियां रखी थीं—छत तक। उनमें शायद गेहूं, चावल, दालें थीं। एक तरफ आलू और प्याज के दो बोरे रखे हुए थे। तेल के कनस्तर। मसालों के डिब्बे और जाने क्या-क्या इधर-उधर रखा हुआ था। कमरे के बीचोंबीच ऐन दरवाजे के सामने एक चारपाई बिछी हुई थी, जिसपर दो कंबल और एक मैला-कुचैला तकिया पड़ा था। पूरे कमरे में प्याज और मसालों की गंध व्याप्त थी।

एक मिनट तक वे खामोश खड़े रहे।

फिर शकुन ने चारपाई पर एक कंबल बिछा लिया और निक्की को उसपर लिटा दिया। मोहन तुरन्त बोल उठा, "मैं बाहर बरामदे में पड़ रहूंगा। आपके पास एक कंबल तो होगा न..."

शकुन ने "हां" कहा और सूटकेस में से कंबल निकालने लगी।

"निक्की के लिए दूध वगैरह की जरूरत होगी," कहते हुए मोहन ने थर्मस उठा ली और जाते-जाते बोला, "मैं लेकर आता हूं...दरवाजा बंद कर लीजिए...हवा बहुत ठंडी है..."

शकुन ने कंबल निकालकर सूटकेस पर ही रख दिया।

मोहन जब लौटकर आया, तो शकुन चारपाई की पाटी पर बैठी मिली।

मोहन ने थर्मस उसे थमा दी। शकुन ने चुपचाप अपना कंबल उसकी ओर बढ़ा दिया।

"अरे! इसे रहने दीजिए—दूसरा दे दीजिए···यह खराब हो जाएगा।"

"ठंड बहुत है। नीचे, फर्श पर कैसे सोएंगे।" शकुन ने पूछा।

"पड़ रहूंगा। रात ही तो काटनी है।"

उसने खुद ही झुककर चारपाई पर पड़ा कंबल उठा लिया और बाहर निकल गया। फिर घूमकर बोला, "दरवाजा बंद कर लीजिए और चटखनी लगा लीजिए···"

शकुन ने कोई जवाब नहीं दिया, तो मोहन ने पलटकर उसकी ओर देखा। उसकी नजर को देखकर वह कांप-सा गया।

उसने बरामदे के कोने में ही कंबल बिछा लिया।

शकुन उठी और उसने दरवाजा बंद कर लिया।

रात बहुत भयानक हो उठी थी।

तेज बारिश के साथ तूफानी हवा चल रही थी। हवा बर्फ के तीरों की तरह शरीर से टकराती थी। फिर भी मोहन का गला सूखा जा रहा था।

उसका दिमाग अजीब उधेड़-बुन में उलझा हुआ था। वह कंबल पर लेटा हुआ था। बीच-बीच में वह उठकर बैठ जाता, फिर उठकर टहलने लगता···दो-तीन बार उसके कदम उसे कमरे के दरवाजे की ओर भी खींच ले गए थे। जी में आता था वह किसी तरह कमरे में चला जाए और अपने ठंडे बदन को शकुन के गरम बदन में गर्क़ कर दे, लेकिन दरवाजे तक हाथ उठाकर भी उसकी हिम्मत जवाब दे जाती थी। दिल के किसी कोने से आवाज आती थी—यह गलत होगा।

फिर एकाएक तूफान और भी तेज हो गया। मोहन फिर उठकर बैठ गया। उसकी नजरें कमरे के दरवाजे पर टिक गयीं। वह उठा और दरवाजे तक चला गया। दो-तीन पल यों ही गुजर गए। फिर उसने दरवाजे पर दस्तक देने के लिए हाथ उठाया। हाथ दरवाजे पर रखा तो वह थोड़ा-सा खुल गया। उसे हैरानी हुई—अंदर से चटखनी नहीं लगाई गई थी।

उसका सारा शरीर कांप गया। कांपते हाथों से ही उसने दरवाजे को ठेल दिया।

शकुन अब भी चारपाई की पाटी पर बैठी थी, उसी तरह जैसे वह कई घंटे पहले बैठी हुई थी।

शकुन का रोयां-रोयां तना हुआ था। उसने आंखें उठाकर मोहन की ओर देखा। उनकी नजरें मिलीं। वह उसकी ओर देखे जा रही थी, लेकिन मोहन की नजरें झुक गईं। अपराधबोध ने उसे घेर लिया। वह अब भी उसके चेहरे की ओर देख रही थी। फिर उसके चेहरे का भाव बदल गया।

वह उठी और बिना कुछ बोले उसने दरवाजे को जोर से बंद कर दिया।

मोहन की टांगें जवाब दे गयीं। फिर उसे पता नहीं चला, वह वापस कंबल तक कैसे पहुंचा और मुरदे की तरह ढह गया।

तूफान शांत हो चुका था। मोहन की आंख खुली, तो उसने देखा, दिन चढ़ आया है। उसकी नजर दरवाजे की ओर गई, तो वह खुला हुआ था। कमरा खाली था।

रात की सारी घटनाएं उसके दिमाग में घूम गईं और उसे लगा शकुन अपमानित महसूस करके, निक्की को लेकर कहीं चली गई है। सरदी में भी वह पसीने से नहा गया।

उसने तुरंत कंबल छोड़ दिया। भागकर वह ढाबे से बाहर आया, तो उसकी जान में जान आई। शकुन और निक्की बाहर खड़ी थीं। पास ही एक बुजुर्ग खड़े थे। सोलह-सत्रह साल का एक लड़का भी था।

शकुन के सिर पर पल्लू था। हल्का-सा घूंघट भी उसने खींच रखा था। मोहन को देखते ही उसने उसकी तरफ पीठ कर ली।

मोहन के कदम सुस्त हो गए, लेकिन बुजुर्ग उसकी तरफ बढ़ आये।

"तुम ही मोहन हो, बरखुरदार?" उन्होंने बड़ी मोटी जुबान से पूछा।

"जी···माफ कीजिए···मैंने आपको···"

"अरे! इसे रहने दीजिए—दूसरा दे दीजिए...यह खराब हो जाएगा।"

"ठंड बहुत है। नीचे, फर्श पर कैसे सोएंगे।" शकुन ने पूछा।

"पड़ रहूंगा। रात ही तो काटनी है।"

उसने खुद ही झुककर चारपाई पर पड़ा कंबल उठा लिया और बाहर निकल गया। फिर घूमकर बोला, "दरवाजा बंद कर लीजिए और चटखनी लगा लीजिए..."

शकुन ने कोई जवाब नहीं दिया, तो मोहन ने पलटकर उसकी ओर देखा। उसकी नजर को देखकर वह कांप-सा गया।

उसने बरामदे के कोने में ही कंबल बिछा लिया।

शकुन उठी और उसने दरवाजा बंद कर लिया।

•

रात बहुत भयानक हो उठी थी।

तेज बारिश के साथ तूफानी हवा चल रही थी। हवा बर्फ के तीरों की तरह शरीर से टकराती थी। फिर भी मोहन का गला सूखा जा रहा था।

उसका दिमाग अजीब उधेड़-बुन में उलझा हुआ था। वह कंबल पर लेटा हुआ था। बीच-बीच में वह उठकर बैठ जाता, फिर उठकर टहलने लगता...दो-तीन बार उसके कदम उसे कमरे के दरवाजे की ओर भी खींच ले गए थे। जी में आता था वह किसी तरह कमरे में चला जाए और अपने ठंडे बदन को शकुन के गरम बदन में ग़र्क़ कर दे, लेकिन दरवाजे तक हाथ उठाकर भी उसकी हिम्मत जवाब दे जाती थी। दिल के किसी कोने से आवाज आती थी—यह गलत होगा।

फिर एकाएक तूफान और भी तेज हो गया। मोहन फिर उठकर बैठ गया। उसकी नजरें कमरे के दरवाजे पर टिक गयीं। वह उठा और दरवाजे तक चला गया। दो-तीन पल यों ही गुजर गए। फिर उसने दरवाजे पर दस्तक देने के लिए हाथ उठाया। हाथ दरवाजे पर रखा तो वह थोड़ा-सा खुल गया। उसे हैरानी हुई—अंदर से चटखनी नहीं लगाई गई थी।

उसका सारा शरीर कांप गया। कांपते हाथों से ही उसने दरवाजे को ठेल दिया।

शकुन अब भी चारपाई की पाटी पर बैठी थी, उसी तरह जैसे वह कई घंटे पहले बैठी हुई थी।

शकुन का रोयां-रोयां तना हुआ था। उसने आंखें उठाकर मोहन की ओर देखा। उनकी नजरें मिलीं। वह उसकी ओर देखे जा रही थी, लेकिन मोहन की नजरें झुक गईं। अपराधबोध ने उसे घेर लिया। वह अब भी उसके चेहरे की ओर देख रही थी। फिर उसके चेहरे का भाव बदल गया।

वह उठी और बिना कुछ बोले उसने दरवाजे को ओर से बंद कर दिया।

मोहन की टांगें जवाब दे गयीं। फिर उसे पता नहीं चला, वह अपने कंबल तक कैसे पहुंचा और मुरदे की तरह ढह गया।

तूफान शांत हो चुका था। मोहन की आंख खुली, तो उसने देखा, सवेरा चढ़ आया है। उसकी नजर दरवाजे की ओर गई, तो वह खुला हुआ था। कमरा खाली था।

रात की सारी घटनाएं उसके दिमाग में घूम गईं और उसे लगा, शकुन अपमानित महसूस करके, किसी को लेकर कहीं चली गई है। सरदी में भी वह पसीने से नहा गया।

उसने तुरंत कंबल छोड़ दिया। जल्दी से वह कमरे से बाहर आया, तो उसकी जान में जान आई। शकुन और निर्मला बाहर खड़ी थीं। पास ही एक बुजुर्ग खड़े थे। दस-बारह साल का एक लड़का भी था।

शकुन के सिर पर पल्लू था। हल्का-सा घूंघट भी उसने खींच रखा था। मोहन को देखते ही उसने उसकी तरफ पीठ कर ली।

मोहन के कदम रुक-से गए, लेकिन बुजुर्ग उसकी तरफ बढ़ आये।

"तुम ही मोहन हो, बरखुरदार?" उन्होंने बड़ी धीमी आवाज में पूछा।

"जी...माफ़ कीजिए...मैंने आपको..."

"मैं निक्की का दादा हूं," बुजुर्ग ने बताया। फिर साथ आये लड़के की तरफ इशारा करते हुए बोले, "और यह निक्की का चाचा है···हमें तो बड़ी फिक्र हो रही थी कि बहू कहां रह गई। फिर बस अड्डे पर पता चला कि पुल टूट गया है···"

"अब तक तो बेली ब्रिज बन गया होगा···" मोहन ने सहज ही पूछ डाला।

"हां—वर्ना हम लोग इस पार तक कैसे आते ?" बुजुर्ग ने मुसकराकर जवाब दिया।

मोहन अपने सवाल की व्यर्थता पर शर्मिंदा-सा हो गया। उसकी नजर बार-बार शकुन की तरफ उठ जाती थी और उसकी पीठ को देखकर वह उलझ जाता था। अपराध बोध और भी गहरा हो जाता था।

"चलिए, यह तो अच्छा ही हुआ कि आप लोग आ गये," आखिर मोहन ने कहा, "मैं अब यहीं से लौट जाऊंगा।"

"क्यों, बरखुरदार !" बुजुर्ग बोले। "इतनी दूर तक आ गये हो··· हमारे साथ चलो। एकाध दिन रहकर लौट जाना।"

मोहन ने शकुन की तरफ देखा। वह अब भी पीठ किये खड़ी थी। बोला, "चलता तो जरूर···लेकिन वहां काम का हर्ज होगा···उस्ताद जी की तबियत भी अच्छी नहीं है।"

"हां, वह तो बहू ने बताया···" बुजुर्ग ने कहा। फिर निराशा-भरे स्वर में बोले, "अच्छा, फिर···हमारी बस तो तैयार है, तुमने इतनी तकलीफ की। यहां तक आये। घर चलते, तो हमें अच्छा ही लगता···"

"फिर कभी सही···चलिए, मैं आपको बस तक छोड़ देता हूं···"

बस अड्डे तक फिर कोई बात नहीं हुई। तब भी नहीं, जब वे लोग बस में सवार हुए। शकुन ने घूमकर मोहन की ओर देखा ही नहीं। निक्की जरूर उसके पास आयी।

वे लोग बस में चढ़ गये। मोहन नीचे ही खड़ा रहा। शकुन लगातार उसकी ओर से मुंह घुमाये रही। फिर बस स्टार्ट हुई। मोहन ने खिड़की की तरफ देखा। शकुन अब भी दूसरी ओर देख रही थी।

बस चलने लगी, तो शकुन ने बाहर देखा—मोहन से उसकी नजर

मिली। मोहन एक बार फिर कांप गया—उन निगाहों में शिकवे ही शिकवे थे।

बस चली गई।

उन आंखों में भरे शिकवों का अर्थ और उनकी संजीदगी मोहन की समझ में बहुत दिन बाद आई।

मोहन लौट गया था। फिर दिल्ली पहुंचा था, तो दो-तीन दिनों तक तो उस्ताद जी की सेवा-टहल में ही निकल गये थे। फिर जिस दिन उस्ताद जी स्वस्थ होकर गैराज में जाने लायक हुए थे, उसी दिन एक सज्जन उस्ताद जी से मिलने गैराज में आये थे। उन्होंने उस्ताद जी से कुछ बात की थी और उस्ताद जी ने मोहन को अपने कमरे में बुला लिया था।

"आओ बेटा, आओ," उस्ताद जी ने उसे देखते ही कहा था, "बैठो," फिर वह उन सज्जन से बोले थे, "यही है हमारा बेटा।"

वह सज्जन उसकी ओर देखकर खिल उठे थे।

उस्ताद जी ने परिचय कराया था, "यह शादीलाल हैं ··अंबाला में गैराज चलाते हैं। इन्हें एक मोबाइल मैकेनिक की जरूरत है। जाना चाहोगे?"

"उस्ताद जी, मैं···" मोहन तुरंत कोई फैसला नहीं कर पाया।

"चले जाओ—बहुत अच्छी तनख्वाह देंगे—जिंदगी बन जायेगी तुम्हारी···"

"हां-हां, सोच लो—जबरदस्ती की कोई बात नहीं है—शाम तक बता देना···" शादीलाल ने कहा था।

मोहन ने काफी सोचा था। शकुन को लेकर वह यहीं त्रस्त भी था। उसे लगता था, वह उस्ताद जी को चिट्ठी लिखेगी और उसमें उसके बारे में पता नहीं क्या कुछ बतायेगी। तब वह उस्ताद जी को क्या मुंह दिखायेगा? उसके भीतर का भगोड़ा एक बार फिर जाग उठा और उसने शाम होने से पहले ही अंबाला चले जाने का फैसला कर लिया।

रात को उस्ताद जी ने घर में आकर खबर दी कि मोहन जा रहा

है, तो सब लोग उदास हो गए। कृष्णा ने तो मोहन से बात ही नहीं की। चाची को पहले तो अच्छा नहीं लगा, फिर यह सोचकर उन्होंने मन को समझा लिया, आखिर मोहन कब तक उनके साथ रह सकता था? और फिर वह तरक्की करके जा रहा था। उनकी ममता ने उसे आशीर्वाद ही दिया।

दूसरे दिन वह चलने लगा था, तो कृष्णा सामने आयी थी। आंखों में आंसू भरकर बोली थी, "फिर कब आओगे?"

मोहन का गला भी रुंध गया था। उससे कुछ कहते नहीं बना। उस्ताद जी ने ही कहा, "आता रहेगा···ऐसे कोई घर छूटता है!"

कृष्णा की आंसू-भरी आंखें मोहन के कलेजे में गड़ी रह गई थीं।

एक बार फिर यायावरी जिंदगी शुरू हो गई थी। मोहन अपनी मोटर-साइकल पर सवार, अपना हैवरसैक पीछे जमाये सड़कों पर चक्कर काटता रहता और जहां कहीं कोई गाड़ी बिगड़ी होती, उसकी मरम्मत करने लगता। रात हो जाती, तो किसी ढाबे में सो रहता। वहीं खाना भी खा लेता। बीच-बीच में पैसा जमा कराने के लिए अंबाला लौटता।

इस नई जिंदगी में एक नया रस था, जो मोहन को भा गया था। उस्ताद जी के पास लौटने, कभी उनसे मिलने जाने की बात मन में आती भी, तो वह उसे झटक देता।

लेकिन एक बार वह अंबाला के गैराज में लौटकर आया, तो वहां कृष्णा की चिट्ठी रखी हुई थी। उसने बड़े शिकायत-भरे स्वर में लिखा था कि उसे उन लोगों से ऐसी भी क्या नाराजगी है कि वह उनसे कभी मिलने ही नहीं आता। क्या रिश्ते इसीलिए बनते हैं कि उन्हें इस तरह एक ही झटके से तोड़कर फेंक दिया जाये!

मोहन शर्मिंदा हो गया था। उसने सोच लिया था, जो भी हो, वह एक बार दिल्ली जायेगा। अभी उसका सारा सामान भी तो वहीं पड़ा हुआ था।

एक दिन उसने अपनी मोटर-साइकल उठायी और उस्ताद जी से मिलने चल दिया।

यह उस्ताद जी के गैराज में पहुंचा, तो बत्तियां जल चुकी थीं। वर्कर हाथ-पैर धो रहे थे—दिन-भर का काम सबको थकाये हुए था। लेकिन मोहन को देखते ही सबके चेहरे खिल उठे।

"कैसे हो, भाई?" एक ने कहा।

"बहुत दिनों बाद आये!" दूसरे ने उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए शिकायत की।

"अब हमारी याद कहां आती होगी!" तीसरे ने भी शिकवे-भरे लहजे में कहा।

"नहीं, दोस्तो, ऐसी तो कोई बात नहीं है," मोहन ने कहा। "तुम सबकी याद आती है और खूब आती है···उस्ताद जी कहां हैं?"

"कैबिन में।"

मोहन तेजी से कैबिन में चला गया।

"अरे, मोहन! तुम कब आये?" उस्ताद जी का चेहरा खिल उठा।

"अभी आया हूं, उस्ताद जी!" उसने उनके पांव छू लिए।

"घर से होकर आये हो?"

"नहीं। अभी तो नहीं गया।"

"घर जाओ, भई। कृष्णा तुमसे बहुत खफा है। पहले उससे मिल लो।"

"मुझे मालूम है—उसने मुझे चिट्ठी लिखी थी।"

"अच्छा-अच्छा···चिट्ठी के नाम पर ख्याल आया। तुम्हारी कुछ चिट्ठियां आई थीं। मैंने तुम्हारे कमरे में मेज पर रख दी हैं।"

"जी, मैं देख लूंगा।"

उस्ताद जी से मिलकर मोहन घर जाने की बात सोच रहा था कि अचानक उस्ताद जी पूछ बैठे, "एक बात तो बताओ—तुम राहुल के साथ कहां तक गए थे?"

मोहन का दिल आशंका से कांप उठा, "क्यों···क्या हुआ?" उसने पूछा।

"तुम्हारी उससे कोई बात हुई थी?" उन्होंने पूछा। "उसने कुछ बताया था?"

मोहन ने सिर हिला दिया। "कैसी बात ?"

"शकुन नहीं रही," उस्ताद जी ने ठंडी सांस छोड़ते हुए कहा। "घर पहुंचते ही वह बीमार पड़ गई थी। डॉक्टर को उसने पास नहीं फटकने दिया। दवा उठाकर फेंक दी···जाने उसे क्या हुआ—यह तो एक तरह की खुदकुशी ही हुई !"

मोहन सन्न रह गया। उसका चेहरा फक् पड़ गया था। वह खामोश बैठा रहा। ढाबे में बीती रात उसकी आंखों के सामने परछाईं बनकर नाचने लगी। बेचैन होकर वह उठ खड़ा हुआ।

"घर जाओगे ?" उस्ताद जी ने आह-सी भरते हुए पूछा।

मोहन ने हां में सिर हिला दिया।

लेकिन वह सीधा घर नहीं जा सका। दो-तीन घंटों तक अपनी मोटर-साइकल पर सड़कें नापता रहा। जब थक गया, तब घर पहुंचा। तब तक सब लोग खाना खाकर सोने की तैयारी कर रहे थे। उस्ताद जी ने पूछा, तो उसने झूठ बोल दिया कि वह दोस्तों से मिलने चला गया था और खाना भी वहीं खा आया है।

कृष्णा से उसने आधा घंटा बातें कीं, लेकिन उसके दिलो-दिमाग में अंधड़ चल रहा था, उससे उसे निजात नहीं मिली।

सुबह तड़के ही वह वापस लौट गया।

14

"गोगी की अच्छी कही ! उसकी भी सुन लो ! पिछली वार मैं पिंड गया, तो रात को आ गया। एकदम टल्ली ! आते ही गले से लिपट गया। कहण लग्गा भा जी, गाली दो ! मैं आख्या—नहीं, ओए, सबके सामणे चंगा नहीं लगदा। बस, पैर फड़के बैठ गया, आखे भा जी, गाली दो, नहीं तो पैर नहीं छड्डूंगा ! बस, फड़ केई बैठ गया। मैं तो तंग आ गया।—छड्ड ओए सूर दे पुत्तर ! मैं आख्या—जा के छप्पड़ में मुंह धो !

बस, एकदम फुस हो गया। साले—मज़ा आ गया, भा जी!"

सब हंस दिये।

ट्रक ड्राइवरों का यह झुंड सड़क के पास बने ढाबे पर बैठा था। शाम ढलने को थी। सूरज का कहीं पता नहीं था, क्योंकि बादल थे। सबके हाथों में बड़े वाले चाय के गिलास थे।

"क्या हॉकी खेलता था सोढी?" एक ड्राइवर अपनी बात सुना रहा था। "गेंद तो उसकी स्टिक से चिपककर रह जाती थी। आंख झपकते गोल तक जा पहुंचता था। बात की बात में गोल! मगर पॉलिटिक्स ने मार दिया। अब सारा दिन दारू पीता रहता है। कहता था—गुरां दी सौंह, भा जी, अब तो स्टिक उठाने का मन ही नहीं करता!"

किसीने आवाज़ दी, "मैं आख्या यारू! गड्डी ठीक हो गई कि नहीं?"

ट्रक के नीचे लेटे मोहन ने ज़रा-सा सिर बाहर निकाला और वहीं से बोला, "बस, पांच मिनट और…"

ड्राइवर फिर अपनी बातों में डूब गए।

"बंतासिहा, तेरी सुरो के की हाल है?"

"कुछ न पुच्छ, यार…अभी तक नहा रही है…सिर नहा के कोठे पर चढ़ जाती है— केश फटकारने लगती है तो ऐसे लगता है जैसे सीने पर हंटर पड़ रहे हों…कलेजे से लपटें उठने लगती हैं…"

"हाय! हाय!

गोरी न्हा के छप्पड़ चों निकली,

ते गुल्फें दी लाट वरगी!"

इसके बाद तो टप्पों का मुकाबला-सा ही शुरू हो गया।

"जट्टा चक लै गुड़ दा नी लै के

बाह्मणी गलास वरगी!"

और इससे पहले कि टप्पों का मोड़ पूरी तरह अश्लीलता की तरफ़ मुड़ जाता, मोहन ट्रक के नीचे से निकलकर आ गया। अपना हैवरसैक कंधों पर डालते हुए बोला—"लो बादशाहो, गड्डी तैयार है!"

"वस्से रहो, बच्चे!" ड्राइवरों ने कहा और मोहन अपना

लेकर चलता बना।

ड्राइवरों की खुली-खुली बातों का असर था या मौसम का—मोहन अपनी मोटर साइकल को ढाबे में ही छोड़कर सड़क के नीचे उतर गया। दूर तक, जहां तक नजर जाती थी, सेवों के बाग थे। वह उन्हींमें धंसता चला गया।

शायद तीन-चार मिनट चलते हुए होंगे कि अचानक कोई चीज उसकी पीठ से टकरायी। शायद कोई सेव आकर गिरा था। लेकिन जब उसने नीचे देखा, तो जो सेव उसे नजर आया, वह आधा खाया हुआ था। उसे हल्का-सा विस्मय हुआ। उसने ऊपर देखा, फिर आसपास के पेड़ों की ओर देखा। उसकी नजर इधर-उधर भटक रही थी कि एक खनखनाती हुई हंसी उसके कानों से टकरा गई। वह चौंक गया।

फिर एक पेड़ पर उसे वह नजर आ गई।

मोहन उसे हैरत से देखता ही रह गया। इस जंगल में, बस्ती से इतनी दूर, एक अकेली, जवान खूबसूरत लड़की! वह भी पेड़ पर! कैसे चढ़ी होगी?

वह सोच ही रहा था कि वह तेजी से बोली, "ऐसे घूर-घूरकर क्या देख रहे हो! कभी कोई लड़की नहीं देखी क्या?···चलो, मुझे नीचे उतारो।"

मोहन उस पेड़ के निकट चला गया, चुपचाप उसने उसे नीचे उतार दिया।

नीचे आते ही वह खिलखिलाकर हंसी—"पूछोगे नहीं, मैं उपर कैसे पहुंची!"

मोहन जानता था, उन पेड़ों पर चढ़ना आसान नहीं था। फिर भी, अपनी उत्सुकता दबाते हुए बोला, "न···पता नहीं क्या सुनना पड़े!" वह चलने को हुआ, तो वह 'च-च-च' करने लगी। मोहन ने पलटकर उसकी ओर देखा, तो वह बोली, "मैं देखते ही समझ गई थी···"

"क्या समझ गई थीं?"

"बहुत अकेले हो···"

"अकेली तो तुम भी हो…" पता नहीं क्या बात थी कि मोहन के कदम रुके रह गए थे।

"ऊं हूं—इस वक्त हम दोनों में से कोई भी अकेला नहीं है।"

"तुम्हारे साथी कहां हैं?"

"क्यों?"

"कोई तो साथ होगा?"

"लड़की हूं—जवान हूं—इसलिए?" उसकी आंखें चमकीं, "यही तो कष्ट है, प्राणनाथ!…खैर…मेरे साथी हैं कुछ…"

"कहां हैं?"

तभी एक आवाज चारों तरफ गूंज उठी—"र-ज-नी!"

लड़की ने फौरन मोहन का हाथ खींच लिया। पास ही एक गड्ढा था। दोनों उसमें दुबक गए।

मोहन ने हैरानी से उसको देखा। वह फुसफुसाकर बोली, "वे लोग आ पहुंचे हैं…चुप बैठे रहो।"

वे पांच लोग थे। तीन युवक, दो युवतियां। दो-तीन बार उन्होंने फिर आवाज दी। कोई जवाब नहीं मिला, तो एक लड़की बोली, "पता नहीं कहां मर गई!"

"अरे, छोड़ो भी! ढूंढ़ने की जरूरत ही क्या है? आना होगा, तो अपने-आप आ जाएगी…"

और वे लोग जैसे आये थे, वैसे ही लौट गए।

रजनी उठ खड़ी हुई। मोहन भी अपने कपड़े झाड़ता हुआ उठा।

"सॉरी, प्राणनाथ!" वह बोली। "चलो!"

"कहां?"

"ढाबे में…तुम्हारी मोटर साइकल तो यहीं है न!"

मोहन को लगा, जैसे वह लड़की कोई जासूस है।

"मैंने हंसी की, यार!…अब चलो…"

वे दो-तीन मिनट ही चले होंगे कि अचानक जोर से बिजली कड़की और एकाएक तेज बारिश होने लगी। रजनी ने मोहन को एक पेड़ के नीचे खींच लिया।

कुछ ही मिनट में वे पूरी तरह भीग चुके थे।

बारिश रुकी, तो मोहन चलने को हुआ। रजनी ने उसकी बांह पकड़ ली। "अरे-अरे! मुझे बस-स्टॉप तक नहीं छोड़ोगे! मैं अकेले कैसे जाऊंगी?"

"जैसे आई थीं!" मोहन ने जवाब दिया।

"आ तो गई थी—अब डर लग रहा है···"

मोहन ने उसकी आंखों में झांका। उसे लगा, वह झूठ नहीं बोल रही है।

"चलो···" मोहन ने कहा।

"उधर से नहीं···इधर से···" रजनी ने दूसरी दिशा में इशारा किया। "इधर से शॉर्टकट होना चाहिए···"

मोहन उसके साथ चल दिया।

···लेकिन वह शॉर्टकट नहीं, बेहद लंबा घुमावदार रास्ता साबित हुआ।

जब तक वे बस-स्टॉप पर पहुंचे, तब तक आखिरी बस भी जा चुकी थी।

"यह तो बुरा हुआ···" रजनी ने कहा। "अब रात यहीं गुजारनी पड़ेगी···मैं भीग भी गई हूं···"

मोहन रजनी का खेल कुछ-कुछ समझता जा रहा था। उसकी आंखों में उतरते हुए रंगों को भी देख रहा था।

"चलो, कुछ खा लिया जाये," रजनी बोली। "भूखे पेट तो नींद भी नहीं आयेगी।"

वे दोनों ढाबे की ओर चल दिए। अभी आधा रास्ता ही पार कर पाए थे कि सामने से रजनी के साथी आते नजर आए। अब उनसे बचा नहीं जा सकता था।

"तुम कुछ मत बोलना, प्राणलाल!" रजनी ने मोहन से कहा। वे लोग पास आए, तो एक लड़का बोला, "कहां चली गई थीं, रजनी··· हम तुझे जाने कहां-कहां ढूंढ़ आए!"

"अरे यार! यह अपना प्राणलाल है न, यही मिल गया था," रजनी ने कहा। "बी० ए० में साथ पढ़ता था। आजकल जलंधर टेलीफोन में

है—बस, इसीसे बर्निंग की बातें होने लगीं···"

"बस तो निकल गई," एक लड़की बोली। "अब सुबह ही जा पाएँगे···"

"ठीक है···मैं थोड़ा-सा नाश्ता-पानी करके आती हूं, तुम लोग चलो···" रजनी ने कहा।

वे लोग कंधे उचकाते, मुंह बिचकाते चले गए।

कुछ फासला हो गया, तो मोहन के कानों में एक लड़की की आवाज़ पड़ी, "···कोई फायदा नहीं है···रात को वह नहीं लौटेगी···"

ढाबे में दोनों ने बैठकर गरम-गरम पकौड़े खाए और चाय पी। पकौड़ों में इतनी मिर्च थी कि ज़बान जल रही थी, कानों से धुआं निकल रहा था और आंखों तथा नाक से पानी बहने लगा था। फिर भी रजनी खाती रही, और कहती रही, "तुम भी खाओ, प्राणनाथ! शरमाते क्यों हो?"

खा चुकने के बाद वह बोली, "चलो···"

"कहां?" मोहन ने पूछा।

"जहां तुम्हारी मोटर साइकल खड़ी है—तुम्हारा कमरा भी तो वहीं होगा···"

मोहन का कमरा उसी ढाबे में था, जहां वे खड़े थे। बिना कुछ बोले मोहन अन्दर की ओर घूम गया, रजनी पीछे-पीछे चलने लगी।

मोहन ने कमरा खोला, तो वह अन्दर चली गई, एक उचटती-सी नज़र उसने चारों तरफ डाली और बोली, "कमरा तो अच्छा है···अच्छा, तुम ज़रा घूम आओ···मैं कपड़े बदल लूं···"

"मैं बाहर चला जाता हूं···" उसने हैवरसैक खाट पर रखते हुए कहा। वह सोचता ही रह गया कि उसके कपड़े थे कहां, जिन्हें वह बदलने वाली थी···"

बाहर निकलकर उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया। पहले तो वह यों ही खड़ा रहा, फिर इधर-उधर देखने लगा। एकाएक, जाने क्यों, सिगरेट पीने का उसका मन हो आया···

वाहर आकर उसने एक फिल्टर सिगरेट ले ली। सुलगाकर दो-तीन कश लिए। कुछ अच्छा नहीं लगा। उसने सिगरेट को वहीं फेंक दिया।

फिर वह कमरे की ओर लौट गया।

रजनी की आवाज बन्द दरवाजे के पीछे से आ रही थी—"आ जाओ, प्राणलाल!..."

मोहन ने आगे बढ़कर दरवाजा खोला—और सन्न रह गया। रजनी सामने खड़ी थी। उसके सुडौल वदन पर सिर्फ एक कमीज थी—वह भी मोहन की।

मोहन के पूरे शरीर में सनसनाहट की लहर दौड़ गई। उसने दरवाजे पर अटके अपने हाथ को नीचे खींचा, आगे बढ़ा और दरवाजा बन्द कर लिया।

ढावे के किसी दूसरे कमरे में किसीने अपना ट्रांजिस्टर खोल दिया था और मुलतानी तोड़ी के स्वर फिजा में फैल गए।

मोहन के लिए यह बिल्कुल नया, अनोखा अनुभव था। मांसलता की गंध उसे पहली बार इतने निकट से प्राप्त हुई थी—एक अद्भुत ऊष्मा जिसने उसके वरसों के तनाव को पिघलाकर रख दिया था। सब कुछ खामोश था, फिर भी जाने कितनी आवाजें थीं, जो उसके कानों में गूंज गई थीं...

आधी रात तक वे जागते रहे। उन कुछ घंटों में मोहन को यही लगता रहा कि वह खुली आंखों कोई सपना देखता रहा है।

रजनी अब भी उसके पास लेटी हुई थी। एकाएक वह धीरे से हंस दी और बोली, "लगता है, आज तक सिर्फ बांसुरी ही वजाते रहे हो... क्यों!...जरा वजाओ तो, मैं भी सुनूं..."

मोहन ने अलगोजा उठा लिया। एक उदास-सी धुन उसने छेड़ दी। अचानक कांता की तस्वीर उसकी आंखों के सामने नाचने लगी...फिर शकुन का पूरा वदन लहराने लगा। उसके हाथ रुक गए।

रजनी ने अपना सिर उसके सीने पर रख दिया था। बोली, "रुक क्यों गए?"

मोहन कुछ नहीं बोला।

"किसी की याद आ गई?"

वह अब भी कुछ नहीं बोला।

"बचपन का प्यार था! पत्नी अब?"

"हां—और मेरे पिता ने उसे कुचलकर रख दिया।"

रजनी उसके और पास सरक आई। "बांसुरी तो अच्छी बजाते हो, प्राणनाथ!"

"*यह बांसुरी नहीं है*…"

"तो?"

"अलगोजा है—यह अकेले में कभी नहीं बजता!…"

"ओह…तो यह भी हमारी-तुम्हारी तरह है!"

रजनी ने उसे अपनी बांहों में समेट लिया।

सुबह उसकी नींद खुली, तो कमरे में वह अकेला था। रजनी का कोई संकेत भी वहां नहीं था। मोहन सोचने लगा—रात उसने सचमुच कोई सपना तो नहीं देखा था? लेकिन नहीं, वह सपना नहीं था। उसके आसपास रजनी की महक अब भी मौजूद थी।

उसकी वह कमीज, जिसने उस सारे सपने का बीज बोया था, उसके हैंगर पर पड़ी थी—सांप की केंचुल की तरह। उसने कपड़े पहने और एक झटके से बाहर निकल गया।

रजनी अभी ज्यादा दूर नहीं गई थी। ढाबे से करीब पचास मीटर आगे ही वह सूटकेस उठाए चलती नजर आ रही थी।

मोहन उसके पीछे भागा। फिर भागना छोड़ वह तेज-तेज चलने लगा और क्षणों में ही रजनी के पास पहुंच गया।

"सुनिए," उसने पीछे से आवाज दी।

मोहन के पांव रुक गए। उसने मोहन की ओर देखा। मोहन ने उसकी आंखों में झांका। वह जड़ हो गया। उन आंखों में पहचान का कोई भाव नहीं था—एक अजनबीपन थी, कठोरता थी दूरत्व था। फिर एका-एक वह भाव बदल गया। मोहन के उतरे हुए चेहरे की ओर देखते हुए

वाहर ग्राकर उसने एक फिल्टर सिगरेट ले ली। सुलगाकर दो-तीन कश लिए। कुछ ग्रच्छा नहीं लगा। उसने सिगरेट को वहीं फेंक दिया।

फिर वह कमरे की ओर लौट गया।

रजनी की ग्रावाज वन्द दरवाजे के पीछे से ग्रा रही थी—"ग्रा जाग्रो, प्राणलाल!..."

मोहन ने ग्रागे बढ़कर दरवाजा खोला—और सन्न रह गया। रजनी सामने खड़ी थी। उसके सुडौल वदन पर सिर्फ एक कमीज थी—वह भी मोहन की।

मोहन के पूरे शरीर में सनसनाहट की लहर दौड़ गई। उसने दरवाजे पर ग्रटके ग्रपने हाथ को नीचे खींचा, ग्रागे वढ़ा ग्रौर दरवाजा बन्द कर लिया।

ढावे के किसी दूसरे कमरे में किसीने ग्रपना ट्रांजिस्टर खोल दिया था ग्रौर मुलतानी तोड़ी के स्वर फिजा में फैल गए।

मोहन के लिए यह विल्कुल नया, ग्रनोखा ग्रनुभव था। मांसलता की गंध उसे पहली वार इतने निकट से प्राप्त हुई थी—एक ग्रदभुत ऊष्मा जिसने उसके वरसों के तनाव को पिघलाकर रख दिया था। सब कुछ खामोश था, फिर भी जाने कितनी ग्रावाजें थीं, जो उसके कानों में गूंज गई थीं...

ग्राधी रात तक वे जागते रहे। उन कुछ घंटों में मोहन को यही लगता रहा कि वह खुली ग्रांखों कोई सपना देखता रहा है।

रजनी ग्रव भी उसके पास लेटी हुई थी। एकाएक वह धीरे से हंस दी ग्रौर वोली, "लगता है, ग्राज तक सिर्फ वांसुरी ही बजाते रहे हो... क्यों!...जरा वजाग्रो तो, मैं भी सुनूं..."

मोहन ने ग्रलगोजा उठा लिया। एक उदास-सी धुन उसने छेड़ दी। ग्रचानक कांता की तस्वीर उसकी ग्रांखों के सामने नाचने लगी...फिर शकुन का पूरा वदन लहराने लगा। उसके हाथ रुक गए।

रजनी ने ग्रपना सिर उसके सीने पर रख दिया था। वोली, "रुक क्यों गए?"

मोहन कुछ नहीं बोला।

"किसीकी याद आ गई?"

वह अब भी कुछ नहीं बोला।

"बचपन का प्यार था! पप्पी लव?"

"हां—और मेरे पिता ने उसे कुचलकर रख दिया।"

रजनी उसके और पास सरक आई। "बांसुरी तो अच्छी बजाते हो, प्राणलाल!"

"यह बांसुरी नहीं है..."

"तो?"

"अलगोज़ा है—यह अकेले कभी नहीं बजता!..."

"ओह...तो यह भी हमारी-तुम्हारी तरह है!"

रजनी ने उसे अपनी बांहों में समेट लिया।

सुबह उसकी नींद खुली, तो कमरे में वह अकेला था। रजनी का कोई संकेत भी वहां नहीं था। मोहन सोचने लगा—रात उसने सचमुच कोई सपना तो नहीं देखा था? लेकिन नहीं, वह सपना नहीं था। उसके आसपास रजनी की महक अब भी मौजूद थी।

उसकी वह कमीज़, जिसने इस सारे सपने का बीज बोया था, उसके हैवरसैक पर पड़ी थी—सांप की केंचुल की तरह। उसने कपड़े पहने और एक झटके से बाहर निकल गया।

रजनी अभी ज्यादा दूर नहीं गई थी। ढाबे से करीब पचास मीटर आगे ही वह सूटकेस उठाए चलती नजर आ रही थी।

मोहन उसके पीछे भागा। फिर भागना छोड़ वह तेज़-तेज़ चलने लगा और क्षणों में ही रजनी के पास पहुंच गया।

"सुनिए," उसने पीछे से आवाज दी।

मोहन के पांव रुक गए। उसने मोहन की ओर देखा। मोहन ने उसकी आंखों में झांका। वह जड़ हो गया। उन आंखों में पहचान का कोई भाव नहीं था—एक अजनबीयत थी, कठोरता थी, दूरत्व था। फिर एका-एक वह भाव बदल गया। मोहन के झुके हुए चेहरे की ओर देखते हुए

वह मुसकरा दी और बोली, "गलतफहमी हो गई न ?"

"गलतफहमी !"

"बहते हुए पानी के चुल्लू में आ जाने पर तुमने समझा, पानी तुम्हारा हो गया ! नहीं, प्राणलाल ! बहता पानी किसीका नहीं होता···'

"मैं समझा नहीं···"

"अच्छा ही है···और देखो, किसीसे जिक्र मत कर बैठना, लोग यकीन नहीं करेंगे···यकीन कर भी लिया, तो गलत समझ बैठेंगे···मुमकिन हो, तो कभी याद भी मत करना, हालांकि मैं जानती हूं, तुम भूल नहीं पाओगे—पहले प्यार की तरह···"

मोहन को जैसे जबरदस्त झटका लगा।

"देखो, मैं जानती हूं तुम्हारा नाम प्राणलाल नहीं है—तुम्हारे हैवरसैक पर छपे एम० एल० अक्षरों से प्राणलाल तो नहीं ही बनता··· और मुझे बहुत अच्छा लगा कि तुमने मेरा नाम नहीं पूछा—एक और झूठ से बचा लिया तुमने मुझे···रजनी मेरा नाम नहीं है—यह नाम सिर्फ इस ट्रिप के लिए मैंने अपना लिया है···"

मोहन चुपचाप सुनता रहा।

'तुम मेरा नाम पूछते, तो मुझे झूठ बोलना पड़ता···लेकिन नाम से फर्क भी क्या पड़ जाता ? अगर मैं कह देती कि मेरा नाम मोहिनी है, या श्यामा है या कांता है तो क्या फर्क पड़ जाता ?···"

मोहन का गला सूखने लगा था।

"···या मैं यह कह देती कि मेरा नाम नदी है, या बादल है, या हवा है—तो क्या फर्क पड़ जाता ?"

मोहन ने नजर घुमा ली।

"न···ऐसे नजर मत चुराओ। इस सच्चाई से मुंह मत मोड़ो। जो घड़ी बीत गई, वह एक सच्चाई थी···नाम एक ढोंग होता···और इस घड़ी के बारे में सोचना भी एक ढोंग ही होगा···"

वह चलने लगी थी। मोहन मंत्रविद्ध-सा उसके साथ-साथ चल रहा था।

"हर चीज की एक वजह होती है···" उसने उलझती हुई आवा

में कहा।

"होनी है, उन लोगों के लिए जो जीने के लिए बहाना ढूंढ़ते फिरते हैं…पर मैंने तो जिंदगी को ही बहाना बना लिया है…"

मोहन खामोशी से साथ-साथ चलता रहा।

"मेरे व्यवहार से हैरान न हो!" वह सिर झटककर हंस दी। "सब होते हैं। मैं हूं ही ऐसी…" मोहन ने अजीब-सी नजरों से उसकी ओर देखा, तो वह बोली, "न ऐसे मत देखो…फिर गलत समझ जाओगे…मैं वैसी भी नहीं हूं जैसी तुम समझ रहे हो…मेरा घर है, पति है, नौकरी है…लेकिन कहीं कुछ नहीं है…पिता कैंसर से मर गए, भाई ने खुदकुशी कर ली, मां पागल हो गई…पति न होने के बराबर…मुझे खुद पता नहीं, मैं अब तक पागल क्यों नहीं हो गई…शायद मेरी भटकन ही मुझे जिंदा रखे हुए है—जब भी थक जाती हूं, तो भटकने लगती हूं भटकन से थक जाती हूं तो लौट जाती हूं……इन सिलसिलों का कोई ओर-छोर नहीं है…तुम मेरी भटकन के एक पड़ाव जरूर हो सकते हो, खुद मंजिल नहीं हो सकते…"

मोहन खामोशी से सुनता रहा।

फिर बस-स्टॉप तक उनके बीच कोई बात नहीं हुई।

बस इन्तजार कर रही थी।

रजनी ने टिकट खरीदा और चुपचाप जाकर बस में बैठ गई। मोहन ने भी यह देखने की कोशिश नहीं की कि वह बस कहां जाने वाली थी। उसने खिड़की की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा, न ही उसने बस के जाने का इन्तजार किया, वह उन्हीं कदमों ढाबे की ओर लौट पड़ा।

15

दिन…सप्ताह…महीने…लगातार वही चक्र…सड़कें, गाड़ियां, ढाबे …यह शहर, वह कस्बा, यह गांव…मोहन को यह जिंदगी रास आई

थी।

उसका असर उसकी सेहत पर भी पड़ा था, इसीलिए इस बार उस्ताद जी ने उसे देखते ही कहा था, "सेहत तो तुम्हारी काफी अच्छी हो गई है, लगता है, खानाबदोशी तुम्हें रास आ गई है···काम कैसा लग रहा है ?"

"काम तो ठीक है, उस्ताद जी···पर आप लोगों की याद बहुत आती है···" मोहन ने कहा तो उस्ताद जी को कहीं अच्छा लगा—यानी मोहन इतना दुनियादार नहीं है कि आगे बढ़े और पीछे वालों को भूल गए !

"घर गए थे ? ' उस्ताद जी ने पूछा।

"नहीं तो···क्यों आपने मनीऑर्डर तो भिजवा दिए थे न ?···"

उस्ताद जी के चेहरे पर संजीदगी उतर आई। उन्होंने उसकी बात का जवाब देने के बजाय दूसरा सवाल किया—"तुम मां की चिट्ठियां पढ़ते भी हो या नहीं ?"

मोहन का मन आशंकाओं से घिर गया, "क्या बात है, उस्ताद जी ?"

"एक चिट्ठी तुम्हारी मां की मेरे पास आई है," उस्ताद जी बोले, फिर वह सीधे उसकी आंखों में देखते हुए बोले, "हरामजादे ! तेरे पिता गुजर गए हैं।"

मोहन सन्न रह गया।

"···और इस बात को भी कई महीने हो चुके हैं···तुम कई महीनों से इधर आए ही नहीं···पिछली चिट्ठियों में मां ने खबर दी होगी···कम से कम पढ़ तो ली होतीं···"

मोहन भरभराकर कुर्सी में ढह गया।

"अब बहुत दुःखी होकर मां ने मुझे लिखा है—पितर पक्ष के श्राद्ध आ रहे हैं···तेरे बाऊजी का श्राद्ध होना है···"

मोहन जड़वत् सुन रहा था।

"···तुझे बुलाया है। लिखा है अगर तुम अब भी नहीं आते, तो फिर कभी आने की जरूरत नहीं है···"

उस्ताद जी ने अपनी जेब से तह की हुई एक चिट्ठी निकालकर

उसकी ओर बढ़ा दी।

चिट्ठी लेते समय, उसे खोलते समय, मोहन के हाथ कांपने लगे। पढ़ते समय पूरी इबारत भी कांपती-सी लग रही थी।

चिट्ठी पढ़ लेने के बाद उसे अपना-आप पूरी तरह निचुड़ा हुआ लगने लगा।

"बाऊजी की मृत्यु की सूचना उस चिट्ठी में जरूर थी, पर उसमें यह नहीं पता चलता था कि यह घटना कब घटी। मां ने उस्ताद जी को यही लिखा था कि मोहन तो चिट्ठियों के जवाब ही नहीं देता। पता नहीं, वह चिट्ठियों को पढ़ता भी है या नहीं। पिता के दाह-संस्कार और चौथे-तेरहवें के दिन तो वह नहीं पहुंच सका, पर अब वह जरूर चला आये। अब भी नहीं आता तो फिर कभी आने की जरूरत नहीं। बेटे सोच सकते हैं कि मां-बाप उनके लिए मर चुके, पर मां तो ऐसा नहीं सोच सकती···ठीक है, वह जहां भी है, जैसा भी है, सुखी रहे···अब पितृपक्ष के श्राद्ध आ रहे हैं···वह आ सके, तो ठीक है···रहा तो नहीं जाता···पर अकेले रहना ही पड़ा, तो किसी तरह जिन्दगी के दिन पूरे कर ही लूंगी।"

आंसू मोहन की आंखों में नहीं थे···पर उसकी व्यथा उसके पूरे चेहरे पर उतर आयी थी।

उस्ताद जी विचलित हो उठे थे। उनका सान्त्वना-भरा हाथ मोहन की पीठ पर आ ठहरा था। पर मोहन को जैसे अपने आसपास की कोई खबर ही नहीं रह गयी थी।

"जाओगे ?" उस्ताद जी अस्थिर स्वर में कह उठे। "तुम्हें जाना ही चाहिए।"

मोहन का शरीर घबराया हुआ था। उसे कोई खबर नहीं थी कि उसने सिर हिलाकर हां या ना में कोई उत्तर भी दिया था या नहीं।

"अभी घर जाओ।" उस्ताद जी ने कहा था। "रात को बात करेंगे···"

उसी घबराई हुई हालत में मोहन उस्ताद जी के कमरे से निकल आया और किसी तरह मोटर साइकल पर सवार हो गया।

सभी लोग हैरान थे कि मोहन को एकाएक क्या हो गया था।

शाम के साये ढल रहे थे और आसमान में धूल छा रही थी। परिंदे अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। पर हवा इतनी तेज थी कि उनके पंख नाकाम हुए जा रहे थे, सीधे उड़ने में उन्हें बड़ी कठिनाई हो रही थी—पंख लिफलिफ जाते थे।

धीरे-धीरे सूरज डूबता जा रहा था और आसमान में छायी धूल का रंग खूनी होता जा रहा था।

मोहन था कि घर जाने का उसका मन ही नहीं हो रहा था। मोटर साइकल पर वह गैराज से तो निकल आया था, लेकिन उसके बाद उसे कहां जाना है, किधर का रुख करना है, उसे समझ ही नहीं आ रहा था। जमुना के साथ-साथ जाती सड़क पर वह मोटर साइकल दौड़ाये लिए जा रहा था···फिर लाल किले के पास से होता हुआ वह काफी दूर तक निकल गया···और जब भीड़-भाड़ वाला इलाका फिर पास आता दिखाई दिया, तो उसने मोटर साइकल मोड़ ली। एक बार फिर वह मोटर साइकल को जमुना की ओर दौड़ाता चला गया। एक बार मन हुआ, वह पुल के पार चला जाए, पर उधर ट्रकों, बसों, गाड़ियों, ठेलों का इतना लम्बा तांता लगा हुआ था कि उसे लगा, उस भीड़ को वह पार नहीं कर पायेगा—और यह भी कि उस अजीब-सी भीड़ में वह एकदम गुम हो जायेगा। उसने मोटर साइकल को नावों के पुल की ओर मोड़ दिया। पुल नदी के बीचोंबीच था। उससे पहले काफी लम्बी कच्ची सड़क थी, जिसपर लोहे की चादरें पड़ी हुई थीं। मोहन अपनी मोटर साइकल को उनपर दौड़ाता ले गया। फिर जब पुल पास आता दिखाई दिया तो उसका मन बदल गया। उसने मोटर साइकल को सड़क से अलग कर लिया और रेती पर उसे दौड़ाने लगा। जी में आ रहा था, वह रेती को पार करता हुआ, सीधा सामने की जल-धारा में उतर जाये, लेकिन बीसेक फुट चलने के बाद ही मोटर साइकल के पहिये रेत में धंस गए।

उसने मोटर साइकल को वहीं रेत पर लिटा दिया और खुद नदी की धारा और बड़े पुराने पुल की तरफ मुंह करके बैठ गया। पुल पर

से उठता गाड़ियों, घोड़ों और इनसानों का मिला-जुला शोर यहां तक बहुत महीन होकर आ रहा था। नावों के पुल की खड़खड़ाहट भी बहुत छनकर आ रही थी···रेत और पानी में कोई आवाज नहीं थी।

उस्ताद जी के घर में उसने कितना लम्बा वक्त बिताया था! कितना प्यार मिला था उसे वहां! फिर भी जाने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी···

पर जाना तो होगा ही। जमुना की रेती पर वह कब तक यूं ही बैठा रहेगा?

आसमान की खूनी लाली अब गहरे अंधेरे में तब्दील हो गई थी। दूर बस्तियां जल उठी थीं। चार-छह बूंदें भी आसमान से टपक गईं और दिन-भर की गर्मी सुकून-भरी ठंडक में बदल गई।

जाने कहां से मच्छरों का एक झुंड उड़ता हुआ आया और मोहन के सिर पर मंडराने लगा। मोहन को उनका संगीत बड़ा ओछा लगा और वह उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी पैंट को झाड़ा। मोटर साइकल को उठाकर खड़ा किया और उसे ठेलते हुए सड़क तक ले आया।

सड़क पर पहुंचकर वह मोटर साइकल पर सवार हुआ, और उसे स्टार्ट करके भगाता हुआ मुख्य सड़क पर आ गया।

जमुना के साथ-साथ चलती सड़क पर से गुजरते हुए उसे लगा, पिता का चेहरा उसका पीछा कर रहा है—रोबीली काली-घनी मूछें, पतले होंठ, नोकीली ठोडी, गोरा रंग, कानों में मुरकियां और सिर पर पगड़ी ···उस चेहरे से दूर भागने के लिए उसने मोटर साइकल की रफ्तार बढ़ा दी—पर पिता का चेहरा उतनी ही तेजी से उसका पीछा करने लगा। सामने एक चौराहा आया, तो लाल सिग्नल देखकर उसे एकाएक ब्रेक लगा देने पड़े। मोटर साइकल उछलकर रुक गई···कि तभी उसके कानों से पिता की आवाज टकराई—"संभल के बेटे!···इनसान गलती न करे, तो समझो—नो प्रॉब्लम।···" आत्मग्लानि और खीज से मोहन ने अपना सिर झटक दिया।

सामने की लाल बत्ती जैसे बरसों से लाल ही चली आ रही थी!···

सभी लोग हैरान थे कि मोहन को एकाएक क्या हो गया था।

शाम के साये ढल रहे थे और आसमान में धूल छा रही थी। परिंदे अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। पर हवा इतनी तेज थी कि उनके पंख नाकाम हुए जा रहे थे, सीधे उड़ने में उन्हें बड़ी कठिनाई हो रही थी—पंख लिफलिफ जाते थे।

धीरे-धीरे सूरज डूबता जा रहा था और आसमान में छायी धूल का रंग खूनी होता जा रहा था।

मोहन था कि घर जाने का उसका मन ही नहीं हो रहा था। मोटर साइकल पर वह गैराज से तो निकल आया था, लेकिन उसके बाद उसे कहां जाना है, किधर का रुख करना है, उसे समझ ही नहीं आ रहा था। जमुना के साथ-साथ जाती सड़क पर वह मोटर साइकल दौड़ाये लिए जा रहा था'''फिर लाल किले के पास से होता हुआ वह काफी दूर तक निकल गया'''और जब भीड़-भाड़ वाला इलाका फिर पास आता दिखाई दिया, तो उसने मोटर साइकल मोड़ ली। एक बार फिर वह मोटर साइकल को जमुना की ओर दौड़ाता चला गया। एक बार मन हुआ, वह पुल के पार चला जाए, पर उधर ट्रकों, बसों, गाड़ियों, ठेलों का इतना लम्बा तांता लगा हुआ था कि उसे लगा, उस भीड़ को वह पार नहीं कर पायेगा—और यह भी कि उस अजीब-सी भीड़ में वह एकदम गुम हो जायेगा। उसने मोटर साइकल को नावों के पुल की ओर मोड़ दिया। पुल नदी के बीचोंबीच था। उससे पहले काफी लम्बी कच्ची सड़क थी, जिसपर लोहे की चादरें पड़ी हुई थीं। मोहन अपनी मोटर साइकल को उनपर दौड़ाता ले गया। फिर जब पुल पास आता दिखाई दिया तो उसका मन बदल गया। उसने मोटर साइकल को सड़क से अलग कर लिया और रेती पर उसे दौड़ाने लगा। जी में आ रहा था, वह रेती को पार करता हुआ, सीधा सामने की जल-धारा में उतर जाये, लेकिन बीसेक फुट चलने के बाद ही मोटर साइकल के पहिये रेत में धंस गए।

उसने मोटर साइकल को वहीं रेत पर लिटा दिया और खुद नदी की धारा और बड़े पुराने पुल की तरफ मुंह करके बैठ गया। पुल पर

से उठता गाड़ियों, घोड़ों और इनसानों का मिला-जुला शोर यहां तक बहुत महीन होकर आ रहा था। नावों के पुल की खड़खड़ाहट भी बहुत छनकर आ रही थी···रेत और पानी में कोई आवाज नहीं थी।

उस्ताद जी के घर में उसने कितना लम्बा वक्त बिताया था! कितना प्यार मिला था उसे वहां! फिर भी जाने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी···

पर जाना तो होगा ही। जमुना की रेती पर वह कब तक यूं ही बैठा रहेगा?

आसमान की खूनी लाली अब गहरे अंधेरे में तब्दील हो गई थी। दूर बत्तियां जल उठी थीं। चार-छह बूंदें भी आसमान से टपक गईं और दिन-भर की गर्मी सुकून-भरी ठंडक में बदल गई।

जाने कहां से मच्छरों का एक झुंड उड़ता हुआ आया और मोहन के सिर पर मंडराने लगा। मोहन को उनका संगीत बड़ा भोंडा लगा और वह उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी पैंट को झाड़ा। मोटर साइकल को उठाकर खड़ा किया और उसे ठेलते हुए सड़क तक ले आया।

सड़क पर पहुंचकर वह मोटर साइकल पर सवार हुआ, और उसे स्टार्ट करके भगाता हुआ मुख्य सड़क पर आ गया।

जमुना के साथ-साथ चलती सड़क पर से गुजरते हुए उसे लगा, पिता का चेहरा उसका पीछा कर रहा है—रोबीली काली-घनी मूंछें, पतले होंठ, नोकीली ठोडी, गोरा रंग, कानों में मुरकियां और सिर पर पगड़ी ···उस चेहरे से दूर भागने के लिए उसने मोटर साइकल की रफ्तार बढ़ा दी—पर पिता का चेहरा उतनी ही तेजी से उसका पीछा करने लगा। सामने एक चौराहा आया, तो लाल सिग्नल देखकर उसे [illegible] ब्रेक लगा देने पड़े। मोटर साइकल उछलकर रुक गई···फिर [illegible] उसके कानों से पिता की आवाज टकराई—"मंगल के बेटे!···[illegible] न करे, तो समझो—नो प्रॉब्लम।···" [illegible] ने अपना सिर झटक दिया।

सामने की लाल बत्ती जैसे दरख्तों से भरी हु[illegible]—

वह घर पहुंचा, तो उस्ताद जी उसका इन्तजार कर रहे थे।

"कहां चले गए थे ?" उन्होंने पूछा।

"यूं ही···जमुना की तरफ निकल गया था···" कहते हुए मोहन अपने कमरे में चला गया। मोटर साइकल उसने आंगन में खड़ी कर दी थी।

कमरे में घुसते ही मोहन अजीब-से एहसास से घिर गया। सारा सामान उसका अपना था, पर ऐसा लग रहा था, जैसे वह और किसीके कमरे में आ गया है।

वह जाकर चारपाई पर बैठ गया। पर इससे पहले कि अजनबियत और उसके घेरे उसे कस लेते, उस्ताद जी की पत्नी चली आयीं। पीछे-पीछे कृष्णा भी।

मोहन कुछ नहीं बोला। सिर्फ उसने हाथ जोड़ दिए।

उस्ताद जी की पत्नी ने आगे बढ़कर उसके सिर पर अपना हाथ रख दिया। फिर भरे हुए स्वर में बोलीं, "आना-जाना तो दुनिया में लगा ही रहता है, बेटे···चल उठ, मुंह-हाथ धो ले और खाना खा ले···"

मोहन को ऐसा लगा जैसे उसने बहुत दिनों के बाद कोई आवाज सुनी है—इनसानी आवाज···और दूसरे ही क्षण उसकी आंखें नम हो आईं।

"चलो, भैया," कृष्ण ने कहा, "बहुत दिनों के बाद आए हो···साथ बैठकर खायेंगे।"

कृष्णा ने उसका हाथ पकड़कर उसे उठा लिया—और वह चुपचा उसके साथ चल दिया।

कृष्णा गुसलखाने के दरवाजे तक उसके साथ गई। वह भीतर ग और हाथ-मुंह धोने लगा तो वह दूसरे कमरे से धुला हुआ तौलिया आई। मोहन मुंह पर पानी के कतरे लिये घूमा तो कृष्णा ने तौलि उसकी ओर बढ़ा दिया···

आंगन में बिछी दो चारपाइयों पर उस्ताद जी और उनकी पत्नी बैठे थे। कृष्णा खाना लगाने लगी।

"अब आ जाओ, बुरखुरदार !" उस्ताद जी ने कहा, तो मोहन

ारपाई की तरफ बढ़ गया। कृष्णा ने उसके लिए भी थाली लगा दी ी।

पहले ऐसा कभी नहीं होता था। खाना खामोशी में कभी नहीं चलता ा। मोहन और उस्ताद जी लतीफे सुनाते रहते थे—कृष्णा अपने स्कूल ी बातें सुनाती रहती थी। आज पहला मौका था कि खाने के दौरान ोई बात ही नहीं हो रही थी। सबको बड़ा अजीब लग रहा था।

"भई कमाल है! कोई कुछ बोल क्यों नहीं रहा!" आखिर उस्ताद ी ने कह ही दिया।

सबने एक-दूसरे की तरफ देखा, मोहन की तरफ देखा, जिसकी ांखें झुकी हुई थीं, और धीरे-धीरे अपनी अंगुलियों में थमे कौर मुंह की तरफ बढ़ा लिये।

बात फिर भी नहीं बढ़ पाई।

खाना हो जाने के बाद मोहन अपने कमरे में चला गया। पीछे-पीछे उस्ताद जी भी चले आये। मोहन चारपाई पर बैठ गया। चारपाई के सिरहाने लिपटा हुआ बिस्तर पड़ा था! उसने उससे टेक लगा दी, उस्ताद जी उसके पास आकर बैठ गए।

"तो क्या सोचा, बरखुरदार?"

"अभी तो कुछ नहीं सोच पाया हूं, उस्ताद जी···"

उस्ताद जी ने हैरानी से उसके चेहरे की ओर देखा। फिर बोले—"तुम्हारी जिद यही थी न कि तुम जब तक अपने पैरों पर खड़े नहीं हो जाते, घर नहीं लौटोगे···अब तो खुद कमा रहे हो···वहां मां अकेली हैं··· उनकी देखभाल करने वाला भी तो कोई चाहिए···तुम्हें जाना चाहिए···"

"आपका कहना सही है, उस्ताद जी···फिर भी···मुझे सोच लेने दीजिए···"

"ठीक है···तुम्हारी मर्जी···मुझे जो ठीक लगता है, मैंने वह कह दिया···इससे ज्यादा मुझे हक भी क्या है!"

मोहन को लगा, उस्ताद जी के स्वर में तुर्शी और तल्खी घुल गई है। समझते हुए बोला, "मुझे थोड़ा-सा सोच लेने दीजिए, उस्ताद जी···"

ह घर पहुंचा, तो उस्ताद जी उसका इन्तजार कर रहे थे।

"कहां चले गए थे?" उन्होंने पूछा।

"यूं ही···जमुना की तरफ निकल गया था···" कहते हुए मोहन अपने कमरे में चला गया। मोटर साइकल उसने आंगन में खड़ी कर दी थी।

कमरे में घुसते ही मोहन अजीब-से एहसास से घिर गया। सारा सामान उसका अपना था, पर ऐसा लग रहा था, जैसे वह और किसीके कमरे में आ गया है।

वह जाकर चारपाई पर बैठ गया। पर इससे पहले कि अजनबियत और उसके घेरे उसे कस लेते, उस्ताद जी की पत्नी चली आयीं। पीछे-पीछे कृष्णा भी।

मोहन कुछ नहीं बोला। सिर्फ उसने हाथ जोड़ दिए।

उस्ताद जी की पत्नी ने आगे बढ़कर उसके सिर पर अपना हाथ रख दिया। फिर भरे हुए स्वर में बोलीं, "आना-जाना तो दुनिया में लगा ही रहता है, बेटे···चल उठ, मुंह-हाथ धो ले और खाना खा ले···"

मोहन को ऐसा लगा जैसे उसने बहुत दिनों के बाद कोई आवाज सुनी है—इनसानी आवाज···और दूसरे ही क्षण उसकी आंखें नम हो आईं।

"चलो, भैया," कृष्ण ने कहा, "बहुत दिनों के बाद आए हो···साथ बैठकर खायेंगे।"

कृष्णा ने उसका हाथ पकड़कर उसे उठा लिया—और वह चुपचाप उसके साथ चल दिया।

कृष्णा गुसलखाने के दरवाजे तक उसके साथ गई। वह भीतर गया और हाथ-मुंह धोने लगा तो वह दूसरे कमरे से धुला हुआ तौलिया ले आई। मोहन मुंह पर पानी के कतरे लिये घूमा तो कृष्णा ने तौलिया उसकी ओर बढ़ा दिया···

आंगन में बिछी दो चारपाइयों पर उस्ताद जी और उनकी पत्नी आ बैठे थे। कृष्णा खाना लगाने लगी।

"अब आ जाओ, बुरखुरदार!" उस्ताद जी ने कहा, तो मोहन सीधे

चारपाई की तरफ बढ़ गया। कृष्णा ने उसके लिए भी थाली लगा दी थी।

पहले ऐसा कभी नहीं होता था। खाना खामोशी में कभी नहीं चलता था। मोहन और उस्ताद जी लतीफे सुनाते रहते थे—कृष्णा अपने स्कूल की बातें सुनाती रहती थी। आज पहला मौका था कि खाने के दौरान कोई बात ही नहीं हो रही थी। सबको बड़ा अजीब लग रहा था।

'भई कमाल है! कोई कुछ बोल क्यों नहीं रहा!" आखिर उस्ताद जी ने कह ही दिया।

सबने एक-दूसरे की तरफ देखा, मोहन की तरफ देखा, जिसकी आखें झुकी हुई थीं, और धीरे-धीरे अपनी अंगुलियों में थमे कौर मुंह की तरफ बढ़ा लिये।

बात फिर भी नहीं बढ़ पाई।

खाना हो जाने के बाद मोहन अपने कमरे में चला गया। पीछे-पीछे उस्ताद जी भी चले आये। मोहन चारपाई पर बैठ गया। चारपाई के पैताने लिपटा हुआ बिस्तर पड़ा था! उसने उससे टेक लगा ली, उस्ताद जी उसके पास आकर बैठ गए।

"तो क्या सोचा, बरखुरदार?"

"अभी तो कुछ नहीं सोच पाया हूं, उस्ताद जी···"

उस्ताद जी ने हैरानी से उसके चेहरे की ओर देखा। फिर बोले—"तुम्हारी जिद यही थी न कि तुम जब तक अपने पैरों पर खड़े नहीं हो जाते, घर नहीं लौटोगे···अब तो खुद कमा रहे हो···वहां मां अकेली हैं···उनकी देखभाल करने वाला भी तो कोई चाहिए···तुम्हें जाना चाहिए···"

"आपका कहना सही है, उस्ताद जी···फिर भी···मुझे सोच लेने दीजिए···"

"ठीक है···तुम्हारी मर्जी···मुझे जो ठीक लगता है, मैंने वह कह दिया···इससे ज्यादा मुझे हक भी क्या है!"

मोहन को लगा, उस्ताद जी के स्वर में तुर्शी और तल्खी घुल गई है। समझते हुए बोला, "मुझे थोड़ा-सा सोच लेने दीजिए, उस्ताद जी···"

उस्ताद जी उठकर चले गए। जाते-जाते जाने क्या सोचकर वह छत के पंखे का स्विच ऑन करते गए और दरवाजे को भी बंद कर गए। मोहन कमरे में अकेला था।

यह कमरा उसका अकेले का कभी नहीं रहा था। कृष्णा उसमें बैठकर पढ़ा करती थी, खेला करती थी, खाना तक खा लेती थी। बस शाम के बाद वहां कोई नहीं जाता था।

कमरे में एक मेज-कुर्सी लगी हुई थी, जिनका इस्तेमाल मोहन ने शायद ही कभी किया हो। कमरे में पहुंचते ही वह होता था, या उसकी खाट। लेटे-लेटे वह कोई किताब पढ़ता रहता और जब आंखें नींद से बोझिल होने लगतीं, तो थककर सो जाता।

···और अब फिर वही पथराहट की हालत उसपर तारी होने लगी। उसने जेब से मां की चिट्ठी निकाली और फिर से पढ़ने लगा··· एक बार, दो बार···फिर तीसरी बार पढ़ लेने के बाद जाने उसे क्या हुआ कि उठकर वह मेज की तरफ बढ़ गया।

मेज पर, उसके सामने, चिट्ठियों का एक छोटा-सा ढेर था। आंखें उसपर स्थिर हो गईं। हाथ कह रहे थे, चिट्ठियों को छेड़ो, पर मन कहीं अकुलाकर उसे रोके जा रहा था।

किसी अज्ञात मंत्र के प्रभाव से बंधा वह आहिस्ता से कुर्सी पर बैठ गया। उसके दोनों हाथ मेज पर टिके हुए थे। फिर बेध्यानी में ही उसका एक हाथ चिट्ठियों के ढेर की ओर बढ़ गया। हाथ जाने कब चिट्ठियों के ढेर को उठाकर एक ओर रखने लगे। आंखें हाथों का साथ दे रही थीं—यह जानने में मदद कर रही थीं कि कौन-सी चिट्ठी खुली हुई थी, कौन-सी बंद थी। बस, मन साथ नहीं था। एक ही शरीर के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग क्रियाओं में लीन थे—बल्कि कुछ पूरी तरह सजग और सक्रिय थे, कुछ पूरी तरह सुन्न और सोए हुए थे।

हाथों और आंखों ने मिलकर उन चिट्ठियों को ढेर से अलग कर लिया, जो अनखुली और अनपढ़ी रह गई थीं। फिर उन दोनों अंगों ने उन्हें खोल भी डाला और उनपर पड़ी तारीखें भी पढ़ डालीं। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान चूंकि मस्तिष्क साथ नहीं दे रहा था, इस लिए हुआ

यह था कि सबसे ऊपर वाली अनखुली चिट्ठी नये बने ढेर में सबसे नीचे जा पहुंची थी। उसीमें वह खबर थी—बाबूजी के अचानक चल बसने की खबर···उनके दाह-संस्कार की खबर···उनके चौथे और तेरहवें की तारीख की खबर···

चिट्ठी मां ने लिखी थी। उसके एक-एक शब्द में तकलीफ थी, एक-एक वाक्य बोझिल था।

···बस अड्डे पर, बाऊजी के पांव के अंगूठे में कोई जंग लगा लोहे का टुकड़ा घुस गया था। देखते ही देखते जहरबाद हो गया था और दो ही दिनों में वह चल बसे थे···

मां ने चिट्ठी लिखी थी और मोहन को खबर दी थी···पर मोहन ने पहली कई चिट्ठियों की तरह उस चिट्ठी को भी खोलकर पढ़ा तक नहीं था!

कितनी देर तक मोहन के हाथों में वह चिट्ठी थमी रही, उसे पता ही नहीं चला। फिर वह चिट्ठी को उठाए-उठाए ही उठकर चारपाई तक चला गया और लेट गया। उस्तादजी की दी हुई चिट्ठी का झटका अब गुजर चुका था, पर इस पुरानी चिट्ठी का असर उसपर छाने लगा था। उस्ताद जी की चिट्ठी की खबर अब नई नहीं लग रही थी—धीरे-धीरे वह चिट्ठी किसी पुराने अखबार का रूप लेने लगी थी, बहुत पहले पढ़ी हुई खबर दुबारा सामने आ जाए, तो उसका मजमून महज दिलचस्पी का सामान बन जाता है—उस्ताद जी की दी हुई चिट्ठी का कुछ वैसा ही असर शेष रह गया था···

उसके बावजूद यह तथ्य किसी अविजेय, ठोस चट्टान की तरह उसके सामने था कि बाऊजी नहीं रहे थे।

और अब यह सवाल भी किसी फनियर सांप की तरह उससे आंखें मिलाए लहरा रहा था कि उसे जाना चाहिए या नहीं। सवाल जहरीला था, मगर जिस गति से वह लरज रहा था, उससे उसके मायाजाल और चमकीलेपन को नजरंदाज भी नहीं किया जा सकता था···सवाल की आंखों में तान्त्रिक सम्मोहन था और एकबारगी मोहन को लगा कि वह सवाल और वह खुद ऐन एक-दूसरे के सामने हैं—दोनों की हरकत एक-

दूसरे से बंधी है। दोनों ही मंत्रविद्ध हैं कि एक-दूसरे से टकराए बगैर वे कोई गति भी नहीं कर सकते...

एक लंबे अरसे तक मोहन और वह सवाल एक-दूसरे के सामने वैसे ही बने रहे। फिर मोहन को एकाएक लगा, कमरे में सिर्फ टेबल लैंप की ही रोशनी फैली हुई है। उसका मन हुआ, वह दीवार पर लगे स्विच को दबाकर पूरे कमरे को रोशन कर दे, पर फिर जाने क्यों, उसे लगा, कमरे में रोशनी होते ही वह असहाय हो जाएगा।

रोशनी का सीमाबद्ध दायरा मेज पर स्थिर था और वहां पड़ी हुई हर चीज ऑपरेशन थिएटर की चीजों-सी लग रही थी।

मोहन का सिर लिपटे हुए बिस्तर पर था...बिना बिस्तर की चारपाई का मूंज उसके बदन में हलकी-हलकी सुइयां चुभो रहा था।

उसने करवट बदली, तो उसका चेहरा बंद दरवाजे की ओर हो गया। हल्के से क्षण के लिए उसे लगा कि बंद दरवाजे के पीछे कोई खड़ा है, जो चारपाई की हल्की-हल्की-सी आवाज के कारण वहां से हट गया है। शायद इससे पहले दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक भी हुई थी। फुसफुसाकर शायद उसे किसीने आवाज भी दी थी...या मुमकिन है, यह उसका भ्रम रहा हो...या कृष्णा रही हो!...हां, वही रही होगी... पर उस वक्त?...पहले तो वह रात को ऐसे कभी इधर नहीं आई थी...

मोहन कदमों की आहट का इंतजार करने लगा। पर जब काफी देर के बाद भी कोई आवाज नहीं हुई, तो उसने यही मान लिया—इधर कोई नहीं आया था।

सब तरफ दमघोंटू सन्नाटा पसरा हुआ था।

मोहन का दिमाग दरवाजे के पीछे से भटककर फिर कमरे के भीतर चला आया। चारों तरफ की हर चीज खामोश और स्थिर थी—दीवारें मेज, कुर्सी, मेज पर रखी किताबें, टेबललैंप, रोशनी का दायरा, चिट्ठियां, रोशनदान, फर्श पर पड़ी चप्पलें, बिस्तर, मोहन का अपना अस्तित्व...उसकी धड़कन, उसकी सांसें—पर मोहन का मन?...क्या वह भी उस स्टिल लाइफ का एक हिस्सा था?...

नहीं...वहां एक जीवंत, धड़कती हुई, पूरी दुनिया थी—उस दुनिया

की गत्यात्मकता थी। चहल-पहल-रौनक थी, आवाजें थीं, रंग थे, चेहरे थे···बाऊजी का चेहरा, मां का चेहरा···हरे-भरे खेत, पहाड़ियां और मंदिर, नदियां और झरने, चिड़ियों की चहचहाहट, मकान, मोहल्ले और लोग···और कांता···

मोहन ने बेचैनी से करवट बदल ली।

कमरे के नीम उजाले में मा का चेहरा उभर आया। सौम्य, मुस्कराता हुआ चेहरा और उसके साथ प्यारी आवाज—'तू जानता है, तेरा नाम मोहन क्यों रखा था, हमने ? तुझसे पहले तेरे तीन भाई पैदा हुए, पर एक भी न बचा···मैंने कृष्णा कन्हैया के मंदिर में मनौती मांगी थी कि तू आए और मेरे आंगन में खेलता रहे तो तुझे मोहन पुकारूंगी···'

चेहरा गुम हो गया···आवाज भी खो गई। मोहन ने फिर करवट बदल ली बल्कि औंधा होकर लेट रहा। उसने अपने चेहरे को लिपटे हुए बिस्तर में छुपा लिया।

लेकिन अंधेरे मे फिर पिता का चेहरा उभर आया।

मोहन रात-भर पसीना-पसीना होता रहा।

सुबह-सुबह उस्ताद जी कमरे में आए। कृष्णा चाय रख गई।

उसके उड़े हुए रंग और बोझिल आंखों को देखकर उस्ताद जी को थोड़ी चिंता हुई। प्यार से बोले, "क्या हुआ—ठीक से सोए नहीं ?"

मोहन ने बुझे हुए स्वर में जवाब दिया, "हां, नींद आई ही नहीं···"

"क्या सोचा ? जाओगे ?"

मोहन तुरंत जवाब नहीं दे पाया। फिर दुविधा-भरे स्वर में बोला, "क्या होगा जाकर अब ?"

उस्ताद जी के चेहरे पर गुस्से की रेखाएं उभर आईं "कैसी बातें करते हो तुम ! आखिर वह तुम्हारे पिता थे ! ···मां वहां अकेली है। अब भी नहीं जाओगे, तो फिर कब जाओगे ?"

मोहन ने कोई जवाब नहीं दिया, तो उस्ताद जी का स्वर और भी तीखा हो उठा। "एक बात मैंने तुम्हें कभी नहीं बताई ··तुम्हारे बाऊजी की आत्मा भुन रही है···मैं झूठ नहीं बोलूंगा—तुम इतनी नालायकी न

कर रहे होते, तो मैं अब भी नहीं बताता, पर अब रहा भी नहीं जाता…"

मन में आशंकाओं का गुबार लिये मोहन उस्ताद जी के रोष-भरे चेहरे की ओर देखने लगा।

"तुम्हें पता है तुम्हारे बाऊजी तुमसे मिलने यहां आए थे?"

"कब?" मोहन हैरानी से बोला।

"तुम्हें यहां आए तब ज्यादा दिन नहीं हुए थे। तुम क्या सोचते हो— मेरा कारोबार एकाएक ही इतना अच्छा हो गया था कि मैं तुम्हें तनखाह देने लगा! तुम्हारी तनखाह तुम्हारे बाऊजी ही भेजा करते थे…"

"आपने कभी बताया क्यों नहीं?" मोहन पीड़ा-भरे स्वर में बोला।

"तुम्हारे बाऊजी ने मना न किया होता, तो यह भी बता देता…" उस्ताद जी ने कहा। फिर समझाते हुए बोले, "जवान बेटे के जुदा हो जाने का गम मैं समझता हूं, बेटे…मैंने यह चोट सही है…इकहरी नहीं, दुहरी…तुम्हें तो यह भी खबर नहीं कि बंबई में हमारे चतरू कत्ल हो चुका है…"

"नहीं?" मोहन के लिए यह सब असह्य होता जा रहा था।

"सच्चाई से कब तक मुंह चुराते रहोगे, मोहन!" उस्ताद जी ने संजीदगी से कहा। "अपने-आपसे कब तक भागते रहोगे?"

अचानक सिसकियों की आवाज मोहन के कानों से टकराई। उसने घूमकर देखा—चाची और कृष्णा उसके पास खड़ी थीं और अपने मुंह में पल्लू दिए अपना रुदन दबाने की कोशिश कर रही थीं।

रोते-रोते ही चाची ने अपना हाथ मोहन के सिर पर रख दिया।

मोहन ने अपनी डबडबाती आंखों को बंद कर लिया।

16

कैसा अजीब भटकन लगी है!…

एक के बाद एक यात्राएं…बसें, गाड़ियां, ट्रक…मोटर साइकल…

हर तरह की सवारी और इसमें बंधा यह शरीर···शरीर गाड़ियों के साथ बंधा उनके साथ आगे बढ़ता रहता है—पटरी पर, सीधी या टेढ़ी-मेढ़ी सड़क पर, लेकिन मन पटरी पर नहीं चल पाता। वह यहां, वहां, इधर-उधर, दिग्भ्रमित-सा भटकता रहता है, आगे नहीं बढ़ता···आगे की कभी सोचता भी नहीं। बार-बार पीछे की ओर, अतीत में, लौट जाना चाहता है। यात्राएं बहुत हुई हैं इन पिछले छह-सात बरसों में—सब तरफ। बस, जाना नहीं हो पाया, तो एक ही शहर की ओर—वहां, जहां से यह मन शरीर को भगा लाया था···

अजीब स्थिति है! आदमी जिसे अपना कहता है, अपना मानता है, उसीसे दूर क्यों भागता है? क्या सिर्फ इसलिए कि गुस्सा भी अपनों पर ही आता है! रूठना और मनाना भी सिर्फ अपनों से ही हो सकता है?

···शायद, पर कोई गुस्सा, कोई नाराजगी, कोई ग्रंथि इतनी गहरी भी हो सकती है कि वह इतने बरसों तक बनी रह सके? कि चिट्ठियां आती रहें, संदेश आते रहें, और आदमी उनकी तरफ कोई ध्यान ही न दे? यात्राएं वह करता रहे, लेकिन इधर का कभी रुख भी न हो। जिधर उसकी अपनी जड़ें पनपी हैं—खासकर तब, जब कहीं और जड़ें जम भी न पाई हों?

पर शायद यह उम्र का भी असर होता है। एक खास उम्र होती है, जब आदमी जिद कर सकता है, और उस जिद पर कायम भी रह सकता है—उस उम्र से गुजर जाने के बाद अपनी जिद पर कायम रह पाना भी मुमकिन नहीं होता। जैसे वक्त और अनुभव के साथ भीतर की समस्त शक्तियां भी अपनी ऊर्जा खोने लगती हैं···

या फिर कोई एक ऐसा क्षण आ जाता है, या कोई वारदात हो जाती है, जो जिद की जमी हुई बर्फ को एकाएक पिघलाकर रख देती है···

कहां लौट रहा हूं मैं! ···मन क्यों भटक रहा है? क्या इसलिए कि जिस कारण यह भाग खड़ा हुआ था, वह कारण ही अब नहीं रहा?···

बस अपनी बंधी-बंधाई गति से चली जा रही थी और मोहन का मन

अपनी गति से।

…वह छाया बार-बार क्यों लौटकर आ रही है? वह चेहरा जो अनंत में विलीन हो चुका, क्यों बार-बार यादों के द्वार पर दस्तक दे रहा रहा है? क्या यह अपना देय मांग रहा है? किनारे की सूखी रेत से नदी ही पानी मांग रही है?…

मैंने पाया ही क्या है कि कुछ दे सकूं?…

बरसों के बाद। फिर वही शहर। फिर वही सड़कें, वही गलियां, वही मकान। वही सतरंगी शाम। वही लोग, जैसे इस बीच कहीं कुछ बदला ही नहीं है। पर क्या सचमुच? क्या एक रंग इन सबके बीच से हमेशा के लिए गायब नहीं हो गया है?

बस से उतरने के बाद मोहन के पांव अपने-आप ही उस कैबिन की ओर बढ़ गए, जहां कभी बाऊजी बैठा करते थे। लेकिन फिर एक झटका लगा। चिक वही थी, उसके बाहर स्टूल पर बैठा नौकर भी वही था, लेकिन ऊपर लगा बोर्ड बदल चुका था।

चपरासी के उसे पहचानने से पहले ही उसने अपने कदम घुमा लिए।

एक छोटा-सा लड़का उसके पीछे लग गया था। लड़के ने इसरार-भरी निगाहों से उसकी ओर देखा और मोहन ने बिना कुछ भी कहे, अपना सूटकेस उसके सिर पर रख दिया।

रास्ता कटता गया। मोहन जैसे सपने में चल रहा था। लेकिन गली का मोड़ आते ही उसकी टांगें जवाब देने लगीं। जैसे-जैसे घर पास आता जा रहा था, उसकी हिम्मत जवाब देती जा रही थी।

घर के बाहर पहुंचकर उसने सूटकेस लड़के के सिर से उतार लिया। उसने जेब से अठन्नी निकाली और लड़के की हथेली पर रख दी। लड़का खुश होकर भाग गया।

कुछ क्षणों के लिए मोहन ठिठका खड़ा रहा। दहलीज जैसे कोई लक्ष्मण-रेखा बन गई थी—अग्नि-रेखा—जिसे पार करते ही, उसे डर था, उसका पूरा अस्तित्व झुलस जाएगा।

अनायास उसकी नजर साथ वाले मकान की तरफ उठ गई। क्या कांता अब भी वहां होगी ? फिर ध्यान आया, वक्त किसीका इंतजार नहीं करता—उनका तो कतई नहीं, जो उससे कन्नी काटकर भाग गए हों।

खिड़की बंद थी।

अपनी पूरी हिम्मत बटोरकर मोहन ने दहलीज के अंदर कदम रखा। चार-छह छोटे-छोटे कदम उठाए, फिर ठिठक गया।

आगन के पार फर्श पर चटाई बिछाए मां बैठी थी। मगर क्या वह मां ही थी ? मोहन का कलेजा सिकुड़ गया।

सामने बैठी औरत के बाल आधे से ज्यादा सफेद थे। चेहरा कांतिहीन था। कपड़े सफेद होने के बावजूद मलिन थे। माथे पर झुर्रियां थीं—लेकिन वह मां ही थी।

बहुत हल्के-हल्के कदम उठाता मोहन मा के पास जा पहुंचा। मां खाली-खाली आंखों से उसे देखती रह गई। मोहन ने झुककर पाव छुए, तो एकाएक जैसे कोई बांध टूट गया। मा ने उसे सीने में भींच लिया। वह फूटकर रो पड़ी।

मा के क्रंदन ने मोहन को पिघलाकर रख दिया। उसका गला भर्रा आया। आखें नम हो गईं।

फिर धीरे-धीरे मा शांत हो गई। मुह में पल्लू दिए वह खाली आखें लिए मोहन के चेहरे को देखती रही, जैसे उसे यकीन ही नहीं आ रहा था कि उसका बेटा लौट आया है। फिर वह बड़ी मुश्किल से बोली, "जा बेटे···मुह-हाथ धो ले···"

मोहन ने उठकर हाथ-मुह धोया। कपडे बदले, मा ने नाश्ता दिया। उसने चुपचाप खा लिया। फिर मां बोली, "तेरे कमरे की चाबी आले में रखी है···"

वह उठकर सीढ़ियों की तरफ चला गया। छत पर पहुचा, चाबी आले में रखी थी। अजीब बात थी, उसमें जंग बिलकुल नहीं लगा था। कमरे का ताला खोलते वक्त अनायास ही उसकी नजर दूसरी छत पर बने कमरे की तरफ चली गई। वहां भी ताला लगा हुआ था।

उसने ताला खोलकर आले में रख दिया। फिर दरवाजा खोला। अंदर अंधेरा था, उसने बत्ती जलाई।

कमरे को देखकर वह सन्न रह गया। सब कुछ बड़े करीने से रखा था, जैसे अभी-अभी कोई उसकी सफाई करके गया हो। मेज पर किताबें थीं, फर्श पर कुछ नहीं था। उसकी टूटी हुई गुल्लक के टुकड़े एक तश्तरी में मेज पर रखे हुए थे। चमचमाती साइकल कमरे के कोने में खड़ी थी।

वह संवेदनाशून्य-सा मेज के पास जाकर खड़ा हो गया। उसे पता ही नहीं चला, मां कब वहां आ गई है।

"तेरे बाऊजी किसी को यहां आने नहीं देते थे," मां कह रही थी। "मुझे भी नहीं। खुद अपने हाथों से सफाई करते थे। हर रोज···कोई चीज इधर से उधर हो जाती थी, तो जान खा जाते थे···जाने क्या हो गया था उन्हें···तूने उन्हें गलत समझा, बेटे···"

मोहन चुप खड़ा मेज को घूरता रहा।

"नहीं···वह तुझे बहुत प्यार करते थे···" मां ने कहना जारी रखा। फिर वह मोहन के पास आकर खड़ी हो गई। मोहन किसी तरह कुर्सी पर बैठ गया। मां ने उसके सिर पर हाथ रखा, तो मोहन की आंखों में सवाल उतर आया। पर वह बोल नहीं सका।

मां जैसे उस सवाल को समझ गई। "जाते वक्त कोई तकलीफ नहीं हुई। अड्डे पर ही जंग लगा लोहा पांव में लगा—बस, देखते ही देखते सब खत्म हो गया···टेटनस हो गया था···"

मोहन के पास कहने के लिए कुछ नहीं था।

"उन्हें हमेशा विश्वास रहा, तुम लौट आओगे। मुझसे कहते थे—भागवान, देखना वह जरूर लौट आएगा···अपना गैराज संभालेगा। बसें देखेगा। घर संभालेगा···तब मैं तुम्हें सब तीर्थ कराने ले जाऊंगा···"

मोहन चुप बैठा रहा।

मां ने खाना बनाया। मोहन की सारी भूख जैसे गायब हो गई थी। फिर भी मां उसे खिलाए बगैर नहीं मानी।

खाना खा लेने के बाद वह उसी कुर्सी पर जा बैठा था, जिसपर

कभी बाऊजी बैठा करते थे। अनायास ही उसकी टांग दूसरी पर समकोण बनाकर लेट गई। पांव भी पिता की मुद्रा में हिलने लगा। उसने खिड़की में पड़ा सौंफ का डिब्बा उठाया और थोड़े-से सौंफ साफ करके मुंह में डाल लिए।

मां पास ही बैठी बर्तन मांज रही थी।

"उन्होंने तो तेरे लिए एक दूकान भी खाली करवा ली थी। उसमें मोटर के पुर्जों का माल भी भर दिया था···कहते थे—'हमारा मोहन जब भी आएगा, उसी दूकान पर बैठेगा।' कहते थे, 'दूकान का नाम होगा—मोहनलाल दुर्गादास···'तू बी० ए० न कर सका···उनका यह सपना भी अधूरा रह गया···"

मोहन का चलता हुआ मुंह रुक गया। सौंफ का रस उसके गले में ही अटककर रह गया।

मोहन ने अपनी चारपाई बरामदे में बिछा ली थी। आंगन में सोने का मौसम नहीं था।

मां उसके सिरहाने आकर बैठ गई।

मोहन आंखें बंद किए सोने की कोशिश कर रहा था, लेकिन नींद उससे कोसों दूर थी। मां की आवाज नींद को और भी दूर भगाए दे रही थी।

"तुझे देखकर आए थे, तो बड़े खुश थे। कहते थे—'मुझे फख्र है वह अपने पैरों पर खड़ा होने की कोशिश कर रहा है···इनसान बन रहा है।' पर बरसों के इंतजार के बाद भी तू नहीं आया, तो वह टूट गए। घंटों तेरे कमरे में बैठे रहते थे और मुझसे बात भी नहीं करते थे···"

कैसे लगते होंगे बाऊजी? क्या उनका चेहरा झुर्रियों से भर गया होगा?···एक टूटा हुआ बूढ़ा आदमी···अपने बेटे के लौटने का इंतजार करता हुआ? क्या बाऊजी भी टूट सकते थे?

"तू इतनी छोटी-सी बात पर घर छोड़कर चला गया!···वह हमेशा कहते रहे, 'मेरा मोहन इतना डरपोक और कायर कैसे निकल गया! ऐसे तो कोई नहीं भागता!···मुझसे कहता, मैं एक क्या, दस-दस कलाएं

ला कर उसके कदमों में डाल देता···चंदरसेन की तो दस पुश्तें तर जातीं !···पर सब खत्म हो गया···सब खत्म हो गया···' "

मां फिर रोने लगी। उसके लिए अब और कुछ भी कह पाना संभव नहीं था। अंदर का दुख आंखों से रिसने लगा। मोहन बिलखकर उससे लिपट गया। उसके भीतर की बाढ़ भी फूटकर बाहर आ गई।

· · ·

दूसरे दिन श्राद्ध था। मोहन ने सब काम अपने हाथों पूरा किया। मां सिर्फ बताती रही। ब्राह्मण-भोज भी हो गया। उनको दक्षिणा भी दे दी गई···और वे लोग आशीर्वाद देकर चले गए।

अब मोहन का मन कुछ हलका हो गया था।

वह खाना खाने बैठा, तो मां बोली, "आज पंडित जगन्नाथ से मिल आना। पूछ आना, दूकान का मुहूरत किस दिन ठीक रहेगा···"

"अच्छा···"

मां के चेहरे पर भी एक ही दिन में रंगत आ गई थी। उसका कलेजा शीतल हो गया था।

खाना खाने के बाद कुर्सी पर बैठे-बैठे ही मोहन को झपकी आने लगी थी। वह अंदर चला गया। अचानक उसे खूंटी पर लटकी पिता जी की पगड़ी नजर आ गई। जाने क्या सोचकर उसने पगड़ी को उतार लिया और अपने सिर पर धर लिया। फिर वह दीवार पर लगे आईने के सामने जा खड़ा हुआ। अपना प्रतिबिंब देखकर वह चकित रह गया। उसे लगा, जैसे आईने में से बाऊजी झांक रहे हों। उसके माथे पर पसीना चुहचुहा आया। पगड़ी को उतारकर उसने वापस खूंटी पर टांग दिया और अंदर पड़े दीवान पर औंधा होकर पड़ रहा। उसकी नींद उड़ गई थी।

तभी बाहर के दरवाजे के पास से एक आवाज आई, "बीजी !"

मोहन चौंक गया। यह तो कांता की आवाज थी।

"अरे ! तू है।" मां ने कहा। "आ जा···आ जा !···"

मोहन के कान दरवाजे की ओर लग गए।

"कब आई ?" मां ने पूछा।

"अभी थोड़ी देर पहले।"

"जंगी नहीं आया ?"

"आए हैं—सास के पास बैठे मसखरियां कर रहे हैं···"

"आएगा न ?"

"लो ! आएंगे क्यों नहीं, बीजी ? आपके हाथ की बनी लस्सी पिए बगैर उन्हें चैन थोड़े ही आएगा !"

मोहन उलझकर रह गया। कांता आई है ! यह यहां आती रही है ! और यह जंगी ?···

वह दीवान पर उठकर बैठ गया।

"आज बड़ी खुश लग रही हैं, बीजी ? क्या बात है ?" कांता ने पूछा।

"मोहन आया है।"

"सच, बीजी ! सच ?"

दूसरे ही क्षण कांता दरवाजे में खड़ी थी। उसकी बांहों में साल-भर का बच्चा था। दरवाजे तक तो वह बिजली की गति से आई, मगर उसके बाद ठिठक गई। अपने अंदर का सारा उत्साह उसने दबा लिया। फिर बड़े ठहरे-ठहरे कदमों से वह अंदर आई और चुपचाप मोहन को देखती खड़ी रह गई।

मोहन के लिए अपने-आपको संभाल पाना मुश्किल हो रहा था। लेकिन चुप्पी असहाय हो रही थी। आखिर कांता ही बोली, "···कैसे हो ?"

"अच्छा हूं ···"

"अब तो यहीं रहोगे न ?"

"हां···"

मोहन ने कांता की तरफ देखा। उसे लगा, नहीं, यह वह कांता नहीं है, जिसे छोड़कर वह भाग गया था, जिसकी मुसकराहट, जिसकी आंखों की चमक, जिसकी उस रात की चोखें उसकी जिंदगी का सबसे बड़ा आधार बनी रही थीं। यह कांता तो एक साधारण-सी औरत थी। किसी भी दूसरी औरत जैसी···

दोनों खामोश थे। खामोशी बहुत भारी होती जा रही थी।

तभी वाहर एक भारी, खरजदार आवाज सुनाई दी, "मैंने कहा, वीजी ! मेहमान आए हैं···"

आवाज को सुनते ही कांता ने वाहर की तरफ देखा। फिर मोहन की ओर भरपूर निगाह डालती हुई, अपने वच्चे को लिए वह वाहर चली गई।

आने वाला एक लहीम-शहीम युवक था। आते ही उसने तारा के पांव छुए, मां ने आशीर्वाद दिया, और वह उसके पास ही वैठ गया। फिर कांता को देखकर वोला, "तुम्हें क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं···मोहन आए हैं," कांता ने धीरे से कहा, लेकिन उसका उत्साह उसकी आवाज से छिप नहीं सका।

"हैं !" वह वोला, "तभी सुवह मुझे हैरानी हो रही थी—सूरज पश्चिम से निकल रहा था ! कहां हैं ?"

"अंदर है," मां ने वताया।

"अख्खा !" आवाज और ऊंची हो गई। "मैंने कहा, भाई साहव ! जरा वाहर तो निकलिए—हम भी दीदार कर लें ! ···

"वड़े चर्चे सुने हैं आपके।

"वंदापरवर चिलमन तो उठाइए !"

मोहन को वाहर निकलना ही पड़ा। उसे दरवाजे पर देखकर जंगी वोला, "वाह-वाह ! वाह-वाह ! ···" उसने आगे वढ़कर मोहन का हाथ अपने हाथ में ले लिया। फिर परिचय देने के वाद वोला, "वंदे को जंगी-लाल कहते हैं···वैसे आपका यह खादिम कांता देवी का शौहर कहलाता है···"

जंगी की इस नाटकीयता से कांता का चेहरा लाल हो गया। झिड़कते हुए वोली, "अव छोड़ो भी यह नाटक !"

"अरे भई, तुम भी कमाल करती हो ! पहली वार मिल रहे हैं, क्या एक-दूसरे से तारुफ भी न करें ?" फिर जंगी मां की ओर मुखातिव हुआ, "वीजी ! लाइए मेरा लस्सी का गिलास ! पूरी पाव-भर मलाई होनी चाहिए···पिछली वार दो तोले कम थी। देख लीजिए, कितना दुवला हो गया हूं !"

तारा हंसने लगी। मोहन के होंठों पर भी मुसकराहट आ गई।

"मलाई बाजार से ले आया कर!" मां ने भी मजाक किया। "आजकल पाव-भर मलाई आती भी है दूध पर!"

जंगी बैठ गया। मां का घुटना पकड़ते हुए बोला, "मलाई नहीं है, बीजी, तो कोई बात नहीं, पाव-भर प्यार तो आप डाल ही सकती हैं लस्सी में···"

तारा ने उसके सिर पर हाथ रखकर प्यार से सहला दिया और बोली, "अभी लाई···" वह उठी और रसोई में चली गई। कांता भी पीछे-पीछे चली गई। जंगी ने मोहन को अपनी बातों में उलझा लिया।

जंगी देखने में जितना कठोर और क्रूर लगता था, अंदर से वह उतना ही सीधा और मीठा था। बात-बात में वह शेर गढ़ लेता और बातों के बीच उन्हें जोड़ देता। उससे एक बार मिल लेने के बाद कोई उसका दुश्मन हो ही नहीं सकता था। पहली मुलाकात में ही जंगी ने मोहन को जीत लिया। उसे यह महसूस ही नहीं होने दिया कि वह उस कांता का पति है, जो कभी उसके अपने सपनों का केन्द्रबिंदु थी।

मुलाकात के दूसरे ही दिन जंगी मोहन को अपने जंगलात दिखाने ले गया। जीप को उसने ऐन जंगल के बीच ला खड़ा किया और फिर शाही अन्दाज में बोला, "यह सारा जंगल—दूर तक, जहां तक तुम्हारी नजर जा रही है, हमारी···" फिर उसने तुरत एक शेर भी जड़ दिया :

"ये जंगल ये पर्वत हमारे हैं दोस्त!
निगाहें—करम के सहारे हैं दोस्त!"

मोहन मुसकरा दिया। उस मुसकराहट को देखकर जंगी बोला, "सौंह देवी की! मुसकराते बहुत प्यारा हो!···"उसने बांह पकड़कर मोहन को जीप में उतार लिया। "आओ!"

थोड़ी देर तक दोनों यों ही चलते रहे। फिर जंगी बोला, "तुम्हें हैरानी तो हो रही होगी कि मेरे जैसा जंगली आदमी शायरी कैसे करने लगा!···यह सब कांता देवी का चमत्कार है···सच कहता हूं, इस लड़की ने मेरी जिंदगी ही बदल दी है। हमारा खानदान खूनियों का खानदान

कहलाता था—वात मुंह से वाद में निकलती थी, गोली पहले दागी जाती थी। पर कांता ने मुझे इनसान वना दिया…"

मोहन चुप था। वह सोच रहा था—क्या मैं सचमुच कांता के योग्य था? वह जंगी के सामने अपने-आपको वौना महसूस कर रहा था।

"मैं सच कह रहा हूं, दोस्त!" जंगी कह रहा था। "कभी-कभी तो मैं सोचने लगता हूं कि कांता मेरी जिंदगी में न आई होती, तो मेरा क्या वनता!…अव तक चार-छह खून कर चुका होता…" फिर उसने मोहन का कंधा पकड़कर उसे रोक लिया। "तुम डरपोक निकले, दोस्त! तुम्हारी जगह मैं होता न, तो मैं खुद भागने के वजाय कांता को भगा ले गया होता!"

मोहन चौंक गया। तो, जंगी को सारी दास्तान पता है!

लेकिन जंगी ने उसे ज्यादा सोचने नहीं दिया। हंसकर वोला, "चलो तुम्हें एक चीज दिखाता हूं…"

वह उसे जंगल के आसपास की खूवसूरत पहाड़ियां दिखाने ले गया। फिर एक पहाड़ी पर वने अकेले मकान की ओर इशारा करते हुए वोला, "क्या तुम्हारा मन नहीं करता कि तुम्हारा भी ऐसा ही खूवसूरत घर हो?"

"किसका घर है वह?" मोहन ने पूछा।

"हमारा!"

दूसरे दिन कांता आई, तो मां से मोहन की वातें छेड़कर वैठ गई।

"वीजी, मोहन की शादी कर दो…पांव में वेड़ियां पड़ जाएंगी, तो फिर कभी नहीं भाग सकेंगे…"

"सोच तो मैं भी रही थी—कोई लड़की है तेरी नजर में?" मां ने पूछा।

"लड़कियों की क्या कमी है, वीजी? पर आप पहले वीरजी से तो पूछिए—हो सकता है, उनकी नजर में कोई हो…"

"वात तो तुझे ही करनी पड़ेगी?" मां ने कहा।

"मुझे!…मैं कैसे…?" कांता सोचने लगी। फिर वोली, "अच्छा—

मैं इनसे कहूंगी…"

कुछ दिन और निकल गए। मोहन दूकान के चक्कर में पड़ गया। उसने पंडित से मिलकर मुहूरत निकलवाया और फिर सब परिचितों को आमंत्रण देने चल दिया।

वह जंगी के पास पहुंचा। तो वह पेड़ों की कटाई का निरीक्षण कर रहा था। मोहन को देखते ही वह चिल्लाया, "आओ-आओ।"

"आप आए हमारे जंगल में।

"सब तरफ अजब महक फैल गई…"

मोहन को उसने बड़े उत्साह से अपने बगल में दबा लिया। बोला, "कैसे आना हुआ?"

"मेरी दूकान का मुहूरत है," मोहन ने बताया। "तुम लोगों को बुलावा देने आया हूं।"

"कब?"

"परसों।"

"ठीक है…पर बिरादर, अगर मैं न आ सका तो बुरा मत मानना… कांता जरूर आ जाएगी।" वह फिर छिड़ गया। "मेरा सारा भार तो उसीपर है। इसीलिए तो कहता हूं, कांता न मिली होती, तो मैं तो बारह के भाव बिक गया होता। देख लो, तुम्हारा नुकसान मेरा फायदा बन गया!"

मोहन का चेहरा उतर गया।

जंगी ने फिर कहा, "सुना है, तुम अलगोजा बड़ा अच्छा बजाते हो!"

"बजाता था कभी…"

"क्यों! मैंने तो सुना था कि तुमने अलगोजे से ही शादी कर ली है!" वह हंसा। हंसते-हंसते ही बोला, "बोलो! शादी करोगे? कांता ने एक बहुत अच्छी लड़की देख रखी है तुम्हारे लिए!"

मोहन से कुछ कहते नहीं बना।

"देखोगे उसे? जब भी मन हो, बता देना—मैं तुम्हें ले चलूंगा अपने

साथ। कांता से भी ज्यादा ख़ूबसूरत है···सोच लो, तुम्हारे अलगोजे को सुर मिल जाएगा···"

मोहन फिर भी कुछ नहीं बोला। उसने फिर सिर झुका लिया।

"कमाल है, यार!" जंगी ने ठहाका लगाते हुए कहा। "अभी तक शरमाते हो! तुम्हारी उम्र तक तो हम दस बार गैर-कानूनी शादियां कर चुके थे!"

कांता दूकान के मुहूरत वाले दिन आई! जंगी भी आया। उस रात कांता मोहन के घर में ही रह गई। जंगी खाना खाकर चला गया।

रात को कांता मोहन के पास जा बैठी। हौले से बोली, "क्या सोचा है?"

"किस बारे में?" मोहन ने पूछा।

"इन्होंने बात नहीं की?"

"क्या बात नहीं की?"

"देखो, इनकी छोटी बहन है—बड़ी सुशील, बड़ी प्यारी···इनकी बड़ी ख्वाहिश है—इसमें शादी कर लो। अपना घर बसा लो। बीजी को भी थोड़ा-सा सुख देखने दो। बड़े दुख सहे हैं उन्होंने।"

"यह तुम कह रही हो, कांता!" मोहन ने हैरानी से कहा। "सब कुछ जानते हुए भी!"

"जिंदगी ऐसे ही चलती है···"

मोहन कुछ देर खामोश बैठा रहा। फिर शिकायत-भरे स्वर में बोला, "तुम्हारी शादी हो गई कांता···तुम्हारा घर बस गया···मुझे किसीने ख़बर तक नहीं की!"

"बीजी तुम्हें लिखना चाहती थीं, पर मैंने ही रोक दिया···"

"तुमने?—क्यों?"

"तुम्हें दुख होता।"

एक मिनट की खामोशी के बाद मोहन बोला, "तुम···सुखी हो कांता?"

ठहरे हुए स्वर में कांता ने जवाब दिया, "हां···मोहन मैं बहुत सु

हूं…"

उसका बच्चा पास ही लेटा हुआ था। कांता ने उसे गोद में उठा लिया। उसके सिर को सहलाते हुए बोली, "मेरी बात का जवाब तो दो…"

मोहन ने उससे आंख नहीं मिलाई। सामने देखते हुए बोला, "ठीक है, जैसी तुम लोगों की मर्जी…"

कांता मुसकरा दी। खुशी से उसकी आंखें भर आईं।

सब कुछ बहुत जल्दी हो गया। सगाई भी। शादी भी। कांता भाग-भागकर सब काम करती रही। शादी में सब लोग आए—कांता की मां भी, पिता चंदरसेन भी।

कांता ने अपनी ननद उमा की डोली को विदा किया। उसे अपनी बांहों में भरकर उसके कान में बोली, "उन्हें सुखी रखना, उमा !…"

मोहन ने सुहाग रात वाले कमरे में कदम रखा।

उमा बिस्तर पर बैठी थी। उसने देखा, मोहन कमरे में आकर ठिठककर रुक गया है। वह बिस्तर से उतरी और मोहन के पास जा खड़ी हुई। झुककर उसने मोहन के पांव छू लिए।

मोहन चुप खड़ा रहा।

"क्या बात है ?"…उमा ने बड़ी हिम्मत दिखाते हुए पूछा। "कुछ नाराजगी है ?"

"नहीं…" मोहन ने कहा। "तुमसे कैसी नाराजगी ?"

"मुझसे न सही, अपने-आपसे है ?"

"नहीं, उमा…मैं सोच रहा था, तुम्हें अंधेरे में रखना क्या ठीक होगा ?"

"कैसी बात कह रहे हैं !"

उमा ने उसका हाथ थाम लिया। फिर उसे बिस्तर की तरफ ले गई। उसे बिठाते हुए बोली, "बैठिए, मैं आपकी सारी चिंताएं दूर किए देती हू…"

"पहले मेरी वात सुन लो, उमा…" मोहन ने कहा।

"मुझे कुछ नहीं सुनना है…"

उमा ने विस्तर का तकिया उठाया और उसके नीचे से एक पोटली निकालकर खोलने लगी।

पोटली के खुलते ही मोहन की आंखों के सामने वरसों पहले के दिन चक्कर लगा गए—वह रूमाल, वे मोतियों के हार, वह सर्प के आकार की अंगूठी…सब कुछ था उस पोटली में…

वह प्रश्न-भरी नजरों से उन चीजों को देखता खामोश बैठा रहा।

"यह कांता भाभी की दी हुई सौगात है मुझे…"

मोहन के गले में कुछ आ कर अटक गया।

वह पूरी तरह भीग गया।

"…और जंगी भैया ने यह अलगोजा दिया है—कहते थे यह अकेले कभी नहीं वजता…क्या यह सच्ची वात है ?"

"हां, उमा…" मोहन ने भीगे हुए स्वर में कहा।

उमा ने अलगोजा मोहन के होंठों से लगा दिया।

●●●